मनुष्यके आध्यात्मिक पुनरुत्थानके लिए समर्पित

ज्योति शिखा

जीवन जागृति केन्द्र, बम्बई

बाबूभाई सी. सोलंकी

"ज्योति शिखा"

आचार्य श्री रजनीश की अमृतवाणी का त्रैमासिक संकलन

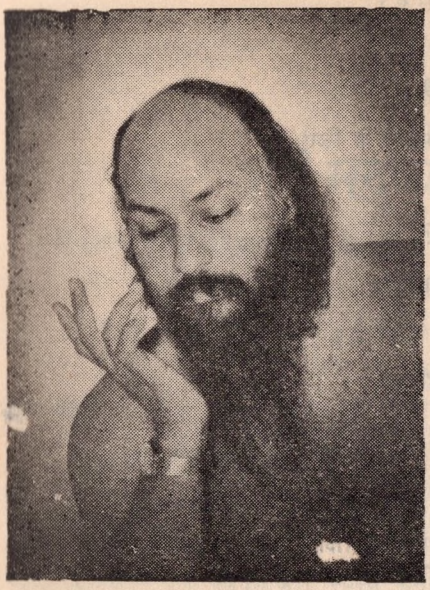

- तृतीय संकलन
- दिसम्बर १९६६
- मानार्ह संपादक :

  श्री जटुभाई महेता

संपादक मंडल :

श्री दुर्लभजीभाई खेताणी

श्री. गुलाबचंद त. शेठ

श्री रिषभदास रांका

श्री पूर्णिमाबहन पकवासा

- मुद्रक–प्रकाशक:

  श्री रमणलाल सी. शाह

  जीवन जागृति केन्द्र

  ५०५, कालबादेवी, बंबई–२

- मुद्रणस्थान:

  स्टेट्स पीपल प्रेस ,

  घोगा स्ट्रीट, बम्बई १

- मूल्य : वार्षिक रु. ५–००

  एक प्रति: रु. १–२५

प्रकाश का पर्व

क्या अंधकार है ?
नहीं। नहीं। अंधकार कहीं भी नहीं है।
बस, हमारी आंखें बंद है,
इस लिए अंधकार दिखाई पड़ता है।
और, मनुष्य इस झूठे अंधकारको मिटाने के लिए
मिट्टी के दिये जलाता है।
किंतु जो नहीं है, वह मिटेगा कैसे ?
उसे मिटाने को दिये नहीं, आंखे चाहिये।
क्योंकि खुली आंखे ही प्रकाश बन जाती है।
आंखे खुली हो तो आलोक के अतिरिक्त
और कुछ भी नहीं है।
और यही आलोक भीतर आत्मा है
और बाहर परमात्मा।
मित्रों, में तुम्हें, प्रकाशके इस पर्व पर
आंखें, खोलने के लिए आमंत्रित करता हूं।

आचार्य श्री रजनीश

सूचना :

आचार्य श्री रजनीशजी के
आगामी कार्यक्रमों की जानकारी के लिये
कृपया अंतिम पृष्ठ देखें ।

नये मनुष्य के जन्म की दिशा

(शिक्षकों और शिक्षार्थियों के बीच दिये गये प्रवचनों से संकलित)

संकलनः प्रो. अरविन्द

मेरे प्रिय,

मैं आपके बीच उपस्थित होकर अत्यंत आनन्दित हूं। निश्चय ही इस अवसर पर मैं अपने हृदय की कुछ बातें आपसे कहना चाहूंगा। शिक्षा की स्थिति देखकर हृदय में बहुत पीडा होती है। शिक्षा के नाम पर जिन परतंत्रताओं का पोषण किया जाता है, उनसे एक स्वतंत्र और स्वस्थ मनुष्य का जन्म संभव नहीं है। मनुष्य जाति जिस कुरुपता और अपंगता में फसी है, उसके मूलभूत कारण शिक्षा में ही छिपे हैं। शिक्षा ने प्रकृति से तो मनुष्य को तोड दिया है, लेकिन संस्कृति उससे पैदा नहीं हो सकी है। उल्टे पैदा हुई है: विकृति। इस विकृति को ही प्रत्येक पीढी नई पीढियों पर थोपे चली जाती है और फिर जब विकृति ही संस्कृति समझी जाती हो तो स्वभावतः थोपने का कार्य पुण्य की आभा भी ले लेता हो तो आश्चर्य नहीं है। और जब पाप पुण्य के वेश में प्रगट होता है, तो अत्यंत घातक हो ही जाता है। इसलिये ही तो शोषण सेवा की आड में खडा होता है, और हिन्सा अहिन्सा के वस्त्र ओढती है, और विकृतियां संस्कृति के मुखौटे पहन लेती है। अधर्म का धर्म के मंदिरों में आवास अकारण नहीं है। अधर्म सीधा और नग्न तो कभी उपस्थित ही नहीं होता है। इसलिये यह सदा ही उचित है कि मात्र वस्त्रों में विश्वास न किया जाय। वस्त्रों को उघाडकर

देख लेना अत्यंत ही आवश्यक है। मैं भी शिक्षा के वस्त्रों को उघाडकर ही देखना चाहूंगा। इसमें आप बुरा तो न मानेंगे? विवशता है, इसलिये ही ऐसा करना आवश्यक है। शिक्षा की वास्तविक आत्मा को देखने के लिये उसके तथा-कथित वस्त्रों को हटाना ही होगा, क्योंकि अत्यधिक सुन्दर वस्त्रों में जरूर ही कोई अस्वस्थ और कुरुप आत्मा वास कर रही है ; अन्यथा मनुष्य का जीवन इतनी घृणा, हिन्सा और अधर्म का जीवन नहीं हो सकता था।

जीवन के वृक्ष पर कडवे और विषाक्त फल देखकर क्या गलत बीजों के बोये जाने का स्मरण नहीं आता है?

बीज गलत न हों तो वृक्ष पर गलत फल कैसे आ सकते हैं?

वृक्ष का विषाक्त फलों से भरा होना बीज में प्रच्छन्न विष के अतिरिक्त और किस बात की खबर है?

मनुष्य गलत है तो निश्चय ही शिक्षा सम्यक् नहीं है।

यह हो सकता है कि आप इस भांति न सोचते रहे हों, और मेरी बात का आपकी विचारणा से कोई मेल न हो, लेकिन, मैं माने जाने का नहीं, मात्र सुने जाने का निवेदन करता हूं. उतना ही पर्याप्त भी है। सत्य को शांति से सुन लेना ही काफी है। असत्य ही माने जाने का आग्रह करता है। सत्य तो मात्र सुन लिये जाने पर ही परिणाम ले आता है।

सत्य का सम्यक् श्रवण ही स्वीकृति है।

शिक्षाशास्त्र से भी मेरी दृष्टि भिन्न और विरोधी हो सकती है। मैं न तो शिक्षा शास्त्री ही हूं, और न समाजशास्त्री ही। किन्तु यह सौभाग्य की ही बात है। क्योंकि , जो जितना अधिक शास्त्र को जानते हैं, उनके लिये जीवन को जानना उतना ही कठिन हो जाता है। शास्त्र सदा ही सत्य के जानने में बाधा बन जाते हैं। शास्त्र से भरे हुये चित्त में चिन्तन समाप्त हो जाता है। चिन्तन के लिये तो निर्भार और पक्षपात मुक्त चित्त चाहिये न? शास्त्र और सिद्धांत पक्ष पैदा करते हैं, और तब जीवन और उसकी समस्याओं के प्रति निष्पक्ष और निर्दोष दृष्टि नहीं रह जाती है। शास्त्र जिसके लिये महत्वपूर्ण हैं उसके समक्ष समाधान समस्याओं से भी ज्यादा महत्वपूर्ण हो जाते हैं। वह समस्याओं के अनुरूप समाधान नहीं, वरन् समाधानों के अनुरुप ही समस्याओं को देखने लगता है। इससे जो मूढतापूर्ण स्थिति पैदा होती है, उससे समाधानों से समस्याओं का अंत नहीं, अपितु और बढती होती है। मनुष्य का पूरा इतिहास ही इसका प्रमाण है।

मनुष्य का विचार और आचार इतना भिन्न और स्वविरोधी क्यों है?

शास्त्रों और सिद्धांतों के आधार पर जीवन पर थोपे गये समाधानों का ही यह परिणाम है। समाधान समस्याओं से नहीं जन्मे हैं। उन्हें समस्याओं के ऊपर थोपा गया है। समाधान ऊपर हैं। समस्यायें भीतर हैं। समाधान बुद्धि में हैं, समस्यायें जीवन में हैं. और यह अंतर्द्वन्द आत्मघाती हो गया है। सभ्यता के भीतर इस भांति जो विक्षिप्तता चलती रही है। वह अब विस्फोट की स्थिति में आ गई है। उसके विस्फोट की संभावना से पूरी मनुष्यता भयाक्रांत है। लेकिन मात्र भयभीत होने से क्या होगा? भय की नहीं, वरन् साहसपूर्वक पूरी स्थिति को जानने और पहचानने की जरुरत है।

मैं शास्त्र को बीच में नहीं लूंगा क्योंकि मैं समाधानों से अंधा नहीं होना चाहता. मैं तो आपसे कुछ ऐसी बातें कहना चाहता हूं जो कि समस्याओं को सीधा देखने से पैदा होती हैं।

क्या यह संभव नहीं है कि हम जीवन को सीधा देख सकें? क्या यह संभव नहीं है कि हम जीवन को वैसा देखें जैसे कि पहले आदमी ने उसे देखा होगा? क्या हमारा मन उतनी सरलता और स्वतंत्रता और सहजता से जीवन को नहीं देख सकता है?

शिक्षा के समक्ष इसे मैं सबसे अहम समस्या मानता हूं।

शिक्षा व्यक्तिचित्त को इतना बोझिल, जटिल और बूढा कर दे कि उसका जीवन से सीधा संपर्क छिन्न भिन्न हो जाय तो यह शुभ नहीं है। बोझिल और बूढा चित्त जीवन के ज्ञान, आनन्द और सौन्दर्य, सभी से वंचित रह जाता है। ज्ञान, आनन्द और सौन्दर्य की अनुभूति के लिये तो युवा चित्त चाहिये, शरीर तो बूढा होने को आबद्ध है लेकिन चित्त नहीं। चित्त तो सदा युवा रह सकता है। मृत्यु के अंतिम क्षण तक चित्त युवा रह सकता है। और ऐसा चित ही जीवन और मृत्यु के रहस्यों को जान पाता है। ऐसा चित्त ही धार्मिक चित्त है।

लेकिन, शिक्षा तो चित्त को बूढा करती है। वह चित्त को जगाती नहीं, भरती है और भरने से चित्त बूढा होता है।

विचार भरने से चित्त थकता, बोझिल होता और बूढा होता है।

विचार देना, स्मृति को भरना है। वह विचार या विवेक का जागरण नहीं है। स्मृति विवेक नहीं है। स्मृति तो यांत्रिक है। विवेक है चैतन्य। विचार नहीं देना है। विचार को जगाना है। विचार जहां जाग्रत है, वहां चित्त सदा युवा है। और जहां चित्त युवा है, वहां जीवन का सतत संघर्ष है। वहां चेतना के द्वार खुले हैं और वहां सुबह की ताजी हवायें भी आती हैं। और नये

ऊगते सूरज का प्रकाश भी आता है। व्यक्ति जब दूसरों के विचारों और शब्दों में ही कैद हो जाता है, तो सत्य के आकाश में उसकी स्वयं की उडने की क्षमता ही नष्ट हो जाती है।

लेकिन शिक्षा क्या करती है?

क्या वह विचार करना सिखाती है? या कि मात्र मृत और उधार विचार देकर ही तृप्त हो जाती है?

विचार से जीवन्त और शक्ति कौनसी है? लेकिन मात्र दूसरों के विचारों को सीख लेने से जड और मृत भी कोई दूसरी जडता नहीं है।

विचार संग्रह जडता लाता है।

विचार संग्रह से विचार और विवेक का जन्म नहीं होता है।

विचार और विवेक के आविर्भाव के लिये यांत्रिक स्मृति पर अत्यधिक बल घातक है। उसके लिये तो विचार और विवेक के समुचित अवसर होने आवश्यक हैं। उसके लिये तो श्रद्धा की जगह संदेह सिखाना अनिवार्य है।

श्रद्धा और विश्वास बांधते हैं। संदेह मुक्त करता है।

लेकिन, संदेह से मेरा अर्थ अविश्वास नहीं है। क्योंकि अविश्वास तो विश्वास का ही नकारात्मक रूप है। न विश्वास, न अविश्वास, वरन् संदेह। विश्वास और अविश्वास दोनों ही संदेह की मृत्यु हैं। और जहां संदेह की मुक्तिदायी तीव्रता नहीं है, वहां न सत्य की खोज है, न प्राप्ति है।

संदेह की तीव्रता खोज बनती है। संदेह है प्यास। संदेह है अभीप्सा। संदेह की अग्नि में ही प्राणों का मंथन होता है और विचार का जन्म होता है।

संदेह की पीडा विचार के जन्म की प्रसव पीडा है। और जो उस पीडा से पलायन करता है, वह सदा के लिये विचार के जागरण से वंचित रह जाता है।

क्या हममें संदेह है? क्या हममें जीवन के मूलभूत अर्थों और मूल्यों के प्रति संदेह है? यदि नहीं, तो निश्चय ही हमारी शिक्षा गलत हुई है। शिक्षाका सम्यक् संदेह के अतिरिक्त और कोई आधार ही नहीं है। संदेह नहीं तो खोज कैसे होगी? संदेह नहीं, तो असंतोष कैसे होगा? संदेह नहीं, तो प्राण सत्य को जानने और पाने को आकुल कैसे होंगे? इसलिये तो हम सब अत्यंत छिछली तृप्ति के डबरे बन गये हैं, और हमारी आत्मायें सतत् सागर की खोज में बहनेवाली सरितायें नहीं है.

यह जडता किसने पैदा की है? निश्चय ही शिक्षा ने और शिक्षक ने। शिक्षक के माध्यम से मनुष्य के चित्त को परतंत्रताओं की अत्यंत सूक्ष्म जंजीरों में

बांधा जाता रहा है। यह सूक्ष्म शोषण बहुत पुराना है। शोषण के अनेक कारण है। धर्म हैं। धार्मिक गुरु हैं। राज तंत्र हैं। समाज के न्यस्त स्वार्थ हैं। धनपति हैं। सत्ताधिकारी हैं। सत्ताधिकारी ने कभी भी नहीं चाहा है कि मनुष्य में विचार हो। क्योंकि जहां विचार है, वहां विद्रोह का बीज है। विचार मूलतः विद्रोह है। क्योंकि विचार अंधा नहीं है। विचार के पास अपनी आंखें है। उसे हर कहीं नहीं ले जाया जा सकता। उसे हर कुछ करने और मानने को राजी नहीं किया जा सकता है। उसे अंधानुयायी नहीं बनाया जा सकता है। इसलिये सत्ताधिकारी विचार के पक्ष में नहीं हैं। वे विश्वास के पक्ष में हैं। क्योंकि विश्वास अंधा है। और मनुष्य अंधा हो तो ही उसका शोषण हो सकता है। और मनुष्य अंधा हो तो ही उसे स्वयं उसके ही अमंगल में संलग्न किया जा सकता है।

मनुष्य का अंधापन उसे सब भांति के शोषण की भूमि बना देता है। इसलिये, विश्वास सिखाया जाता है, आस्था सिखाई जाती है, श्रद्धा सिखाई जाती है। धर्मों ने यहीं किया है। राजनितिज्ञों ने यहीं किया है। विचार से सभी भांति के सत्ताधिकारियों को भय है। विचार जाग्रत होगा तो न तो वर्ण हो सकते हैं, न वर्ग हो सकते हैं। धन का शोषण भी नहीं हो सकता है और शोषण को पिछले जन्मों के पाप पुण्यों के आधार पर भी नहीं समझाया और बचाया जा सकता है। विचार के साथ आयेगी क्रांति, सब तलों पर और सब सम्बन्धों में। राजनीतिज्ञ भी उसमें नहीं बचेंगे और राष्ट्रोंकी सीमायें भी नहीं बचेंगी। मनुष्य को मनुष्य से तोडने वाली कोई दीवार नहीं बच सकती है। इससे विचार से भय है, पूंजीवादी राजनीतिज्ञों को भी, साम्यवादी राजनीतिज्ञों को भी। और इस भय से सुरक्षा के लिये शिक्षा के ढांचे की ईजाद हुई है। यह तथाकथित शिक्षा सैकडों वर्षों से चल रहे एक बड़े षड्यंत्र का हिस्सा है। धर्म पुरोहित पहले इस पर हावी थे, अब राज्य हावी है।

विचार के अभाव में व्यक्ति निर्मित ही नहीं हो पाता है। क्योंकि व्यक्तित्व की मूल आधारशिला ही उसमें अनुपस्थित होती है। व्यक्तित्व की मूल आधारशिला क्या है? क्या विचार की स्वतंत्र क्षमता ही नहीं? लेकिन, स्वतंत्र विचार की तो जन्म के पूर्व ही हत्या कर दी जाती है। गीता सिखाई जाती है, कुरान और बाईबिल सिखाये जाते हैं., केपीटल और कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो सिखाई जाती हैं, उनके, आधार पर, उनके ढांचे में विचार करना भी सिखाया जाता है! ऐसे विचार से ज्यादा मिथ्या और क्या हो सकता है? ऐसे अंधी पुनरुक्ति सिखाई जाती है और उसे ही विचार करना कहा जाता है! जहां आधार है, ढांचा है,

विश्वास और श्रद्धा है, वहां विचार असंभव है। विचार के लिये तो समस्त ढांचों से मुक्त चित्त चाहिये। शिक्षा मन को ढांचे दे और पटरियां तो उचित नहीं है। उसे तो ढांचों में मन न ढल पाये ऐसी सावधानी और सजगता देनी चाहिये। उसे तो ऐसा बोध देना चाहिये कि संस्कारों में चित्त परतंत्र न हो पावे और व्यक्ति की स्वतंत्र चिन्तधारा का आविर्भाव भी हो सके। ध्यान दिया जाय तो यह अवश्य ही हो सकता है। स्वतंत्र चिंतना के बीज तो प्रत्येक व्यक्ति में हैं। अनुकूल सुविधाओं में वे विकसित भी हो सकते हैं। स्वतंत्रता कौन नहीं चाहता है? स्वयं का विवेक और विचार कौन नहीं चाहता है? लेकिन, यदि शिक्षा का पूरा यंत्र ही मनुष्य की स्वतंत्रता की जगह परतंत्रता के लिये तैयारी करता हो तो बात ही दूसरी है। तब तो जो थोडेसे व्यक्ति ही आश्चर्य का कारण हैं वे कि इस यंत्र से गुजरकर भी यंत्र बनने से स्वयं को बचा लेते हैं। शिक्षालयों से गुजरकर स्वयं की प्रतिभा को बचा लेने से अधिक दुरुह कार्य और कोई भी नहीं है! विश्वविद्यालयों ने मौलिक प्रतिभाओं को नष्ट करने में अपनी कुशलता के चरम बिन्दु को बहुत पहले ही उपलब्ध कर लिया है।

मनुष्य की परतंत्रता के लिये ही अनुशासन पर अत्यधिक बल दिया जाता है। विवेक के अभाव की पूर्ति अनुशासन से करने की कोशिश की जाती है। विवेक हो तो व्यक्ति में और उसके जीवन में एक स्वतः स्फूर्त अनुशासन अपने आप ही पैदा होता है। उसे लाना नहीं पडता है। वह तो अपने आप ही आता है। लेकिन जहां विवेक सिखाया ही न जाता हो, वहां तो ऊपर से थोपे अनुशासन पर ही निर्भर होना पडता है। यह अनुशासन मिथ्या तो होगा ही। क्योंकि वह व्यक्ति के अंतस् से नहीं जागता है और उसकी जडें उसके स्वयं के विवेक में नहीं होती हैं। व्यक्ति का अंतःकरण तो सदा भीतर ही भीतर उसके विरोध में सुलगता रहता है। ऐसे अनुशासन की प्रतिक्रिया में ही स्वच्छंदता पैदा होती है। स्वच्छंदता सदा ही परतंत्रता की प्रतिक्रिया है। वह उसकी ही अनिवार्य प्रतिध्वनि है। स्वतंत्रता से भरी चेतना कभी भी स्वच्छंद नहीं होती है। मनुष्य को स्वच्छंदता के रोग से बचाना हो तो उसकी आत्मा को परिपूर्ण स्वतंत्रता का वायुमंडल मिलना चाहिये। लेकिन हम तो दो ही विकल्प जानते हैं: परतंत्रता या स्वच्छंदता। स्वतंत्रता के लिये तो हम अब तक तैयार ही नहीं हो सके हैं। अनुशासन—दूसरों से आया हुआ अनुशासन भी परतंत्रता है। ऐसा अनुशासन जगह जगह टूट रहा है तो बहुत चिन्ता व्याप्त हो गई है। यह अनुशासन तो टूटेगा ही। यह तो टूटना ही चाहिये। उसके होने के कारण ही गलत

हैं। उसकी मृत्यु तो उसमें ही छिपी हुई है। वह तो अराजकता को बलपूर्वक स्वयं में ही छिपाये हुये है। और बलपूर्वक जो भी दमन किया जाता है, एक न एक दिन उसका विस्फोट अवश्यंभावी है। ऐसा अनुशासन हो तो व्यक्ति चेतना की सारी सहजता और आनन्द छीन लेता है, और टूटे तो भी व्यक्ति को खंडहर कर जाता है। बाहर से आया हुआ अनुशासन सब भांति मनुष्य के अहित में है। शिक्षा बाह्यानुशासन से मुक्त होनी चाहिये। उसे तो व्यक्ति में प्रसुप्त विवेक को जगाना चाहिये। फिर वह विवेक ही आत्मानुशासन बन जाता है। वैसी चर्या में न दमन होता है, न दबाव होता है। वैसी चर्या तो फूलों जैसी सहज और सरल होती है। और जीवन जब स्व-विवेक के प्रकाश में गति करता है तो अराजकता और स्वच्छंदता की संभावनायें ही समाप्त हो जाती हैं। जहां दमन ही नहीं है, वहां अराजकता और स्वच्छंदता के विस्फोट भी असंभव है.

मैं पूछता हूं कि क्या हम मनुष्य को स्वतंत्र नहीं बना सकते हैं? स्वतंत्रता में स्वच्छंदता का भय मालूम होता है, क्योंकि हमने मनुष्य को परतंत्रताओं से दबा रखा है, और उसकी आत्मा सदा से ही उन परतंत्रताओं से छूटने को तडफडाती रही है। और जब भी संभव हुआ है, उसने बंधन तोडे हैं, लेकिन बंधन तोडने के प्रयास में वह जिस कटुता, कठोरता और विरोध से भर जाती है, उसके ही कारण स्वतंत्र तो नहीं होती, स्वच्छंद हो जाती है। स्वतंत्रता सृजनात्मक है। स्वच्छंदता विध्वंसात्मक। लेकिन यदि स्वच्छंदता से बचना हो तो। स्वतंत्रता के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं है।

शिक्षा निश्चय ही ऐसे आधार रख सकती है, जो कि मनुष्य को स्वतंत्र बनावें। अनुशासित व्यक्ति अब नहीं चाहिये। स्वतंत्र और स्वयं के विवेक को उपलब्ध व्यक्ति चाहिये। उनमें ही आशा है और उनमें ही भविष्य है।

अनुशासन की प्रणालियों ने क्या किया है? मनुष्य में जडता और बुद्धिहीनता लाई है। अनुशासित व्यक्ति जड तो होगा ही। असल में जो जितना जड़ है, उतना ही अनुशासित हो जायेगा। देखें यंत्र कितने अनुशासित हैं? विवेक सदा ही 'हां' नहीं कह सकता है। उसे 'नहीं' कहना भी आना ही चाहिये। उसके 'हां' में भी तभी मूल्य और अर्थ है जब वह 'नहीं' कहना भी जानता हो। लेकिन अनुशासन 'नहीं' कहना नहीं सिखाता है। वह तो सदा ही 'हां' की अपेक्षा करता है। कहा जाये: गोली चलाओ तो गोली चलायेगा। ऐसी जडता की शिक्षा के कारण ही तो दुनिया में युद्ध और हिंसा और भांति भांति की मूर्खतायें चलती रही हैं, और चल रही हैं। क्या इस दुष्ट चक्र को अब भी नहीं तोडना है? क्या अणु युद्ध के बाद ही अनु-

शासन लाने वाली शिक्षा बंद होगी? लेकिन तब तो बंद करने की कोई जरूरत ही नहीं होगी। क्योंकि तब न तो अनुशास्ता ही बचेंगे और न अनुशासित ही। मनुष्य के भविष्य के लिये अनुशासित बुद्धि के लोगों से जितना खतरा है, उतना किसी और से नहीं। क्योंकि वे केवल आज्ञायें मानना ही जानते हैं। अणु अस्त्रों को चलाने के लिये भी वे आज्ञाशील व्यक्ति सदा तैयार और तत्पर हैं! काश। अनुशासन की जगह विवेक सिखाया गया होता, आज्ञाकारिता की जगह विचार सिखाया गया होता तो निश्चय ही दुनिया बिल्कुल दूसरी ही हो सकती थी।

शिक्षा अनुशासन देने को नहीं, आत्म विवेक देने को है। उससे ही जो अनुशासन फलित होगा, वही शुभ और मंगलदायी हो सकता है। क्योंकि उस अनुशासन का फिर शोषण नहीं किया जा सकता। धर्म पुरोहितों और राजनीतिज्ञों के हाथ में हिन्सा और युद्ध के लिये उसे उपकरण नहीं बनाया जा सकता। उसके आधार पर हिन्दु को मुसलमान से नहीं लडाया जा सकता है [और न राष्ट्रों की झूठी और कल्पित सीमाओं पर ही रक्तपात के तांडव नृत्य किये जा सकते हैं। अनुशासन और आज्ञाकारिता के नाम पर मनुष्य से क्या क्या नहीं कराया गया है?

समाज शिक्षक के द्वारा नयी पीढी को इसी भांति अनुशासित करने का काम लेता रहा है। शिक्षक बहुत से शोषणों का औजार रहा है, वह बहुत से रोगों को संक्रमित करनेवाला उपकरण है। और शायद उसे इसका पता भी नहीं है क्योंकि वह स्वयं भी ऐसी ही शिक्षा का शिकार है! प्रत्येक पीढी अपनी ईर्ष्यायें, अपने द्वेष, अपने वैमनस्य, अपनी शत्रुतायें, अपनी मूढतायें, सभी शिक्षक के द्वारा नयी पीढी को वसीयत में दे जाती है। अपने अनुभवों और ज्ञान के साथ ही साथ वे अपने रोग और जडतायें भी सौंप जाती है। और ज्ञान और अनुभव से ज्यादा आग्रह और सचेतता वे अपने रोगों को देने में बरतती है। क्योंकि उनकी शत्रुतायें और उनके अंध विश्वास उनके अहंकार ही होते हैं। हिन्दू बाप अपने बच्चों को हिंदू होना सिखा जाता है, और जन अपन बच्चों को जैन, और मुसलमान अपने बच्चों को मुसलमान, और मनुष्य विरोधी जिन संप्रदायों में वह पला था, उसी विष को वह अपने बच्चों को भी सौंप जाना चाहता है। शिक्षा के अनेक अनेक माध्यमों से यह विष फैलाया जाता है। और ऐसी विषाक्त सिखावन के कारण मनुष्यता एक नहीं हो पाती है, और उस धर्म के प्रति भी हमारी आंखें नहीं उठ पाती हैं जो कि एक है, और एक ही हो सकती है। ऐसे ही राष्ट्रीयतायें सिखाई जाती हैं। और राष्ट्रीय अहंकारों

को गौरवान्वित किया जाता है। एक देश को दूसरे देशों के विरोध में पाला पोसा और खडा किया जाता है। परिणाम में हिन्सा फलती फूलती है और युद्धों की अग्नि जलती है। जहां अहंकार हैं, वहां हिन्सा है., वहां युद्ध हैं। ऐसे ही और भी बहुत से रोग हैं जिनके कीटाणु शिक्षक अबोध बच्चों में संक्रमित करते रहते हैं। मनुष्य के साथ किये जानेवाले जघन्य से जघन्य अपराधों में से एक यह है। शिक्षक अत्यंत जागरूक हो तो ही इस लांछना से वह बच सकता है।

समाज में जो सत्ताधिकारी है, वे समाज के ढांचे को कभी भी बदलना नहीं चाहते हैं क्योंकि उनकी सत्ता, स्वार्थ और शोषण उस ढांचे पर ही निर्भर होता है। इस ढांचे को भी शिक्षक नये बच्चों के मनों में बैठाता रहता है। वह उन्हें गतानुगतिक बनाता रहता है और मृत परंपराओं से बांधता रहता है। वह उन्हें विद्रोह नहीं सिखाता है। और जहां विद्रोह नहीं है वहां विकास नहीं है। शिक्षक का कर्तव्य क्या है? उसका कर्तव्य है: विद्रोह सिखाना। जिस दिन भी शिक्षा विद्रोही होगी, उसी दिन एक बिल्कुल ही नयी मनुष्यता का जन्म हो सकता है।

विद्रोह से क्या अर्थ है?

विद्रोह से अर्थ है: मूल्यों में क्रांति। निश्चय ही जीवन मूल्य गलत हैं, अन्यथा मनुष्य के जीवन में यह अशांति, यह अर्थहीनता, यह विभ्रांति क्यों होती? यह कुरुपता, यह हिन्सा, यह ईर्ष्या, यह अधर्म—यह सब क्या अकारण है? नहीं, जीवन मूल्य गलत है और उसका ही यह सहज परिणाम है।

जीवन मूल्य बदलने होंगे, मनुष्य के लिये नये मूल्य चाहिये। और उसके लिये एक बडे विद्रोह की तैयारी आवश्यक है।

शिक्षक को निद्रा से जागना ही होगा। उसके अतिरिक्त और कोई भगीरथ नहीं है जो कि विद्रोह की गंगा को पृथ्वी पर ला सके। लेकिन शिक्षक बडे भ्रमों में है। समाज उसे भूखा भला मारे लेकिन उसके प्रति आदर खूब दिखाता है। शिक्षक को सदा से ही आदर और सम्मान दिया गया है। वह गुरु है, सम्मानीय है। ऐसे उसके अहंकार को पोषित किया जाता है। और उसे भ्रम में डाला जाता है। और फिर उसके द्वारा नयी पीढियों को पुराने ढांचों में ढालने का कार्य लिया जाता है। ऐसे बडे आदरपूर्वक शिक्षक का शोषण होता है। समाज शिक्षक को व्यर्थ ही आदर नहीं देता है। इस आदर के बदले बडे सस्ते में वह बहुत ही महंगा काम उससे लेता है। मैं पूछता हूं कि क्या शिक्षकों को इसका बोध है?

मनुष्य का इतिहास मूर्खताओं से भरा है। अंध विश्वासों और अज्ञानों ने

सब कहीं डेरे डाल रखे हैं। लेकिन, शिक्षक उस श्रृंखला से नयी पीढियों को अलग नहीं होने देता है। वह उसी श्रृंखला से नये आगन्तुकों को बांधता चला जाता है। वह अतीत का चाकर है और इस भांति भविष्य का दुश्मन सिद्ध होता है। क्या यह उचित नहीं है कि अतीत का भार हमारे सिर पर न हो? वह पैरों के तले की भूमि बने यह तो ठीक लेकिन सिर का बोझ बने यह तो ठीक नहीं है। भविष्य के निर्माण के लिये अतीत से मुक्त चित्त चाहिये। अतीत के अनुभव मनुष्य के ज्ञान को बढावें लेकिन वे उसे बांधे नहीं। क्योंकि उसे उनसे भी आगे जाना है। अतीत उसकी यात्रा का प्रारंभ है, अंत नहीं। विगत पीढी ने जहां उसे छोडा है, उसे उससे आगे जाना है। हर पीढी को, हर पीछली पीढी को सब भांति पीछे छोड देना है। भौतिक दृष्टि से ही नहीं, मानसिक और आत्मिक दृष्टि से भी। निश्चय ही विदा होती पीढी के अहंकार को इससे चोट लगती है। और इसी अहंकार के कारण वह अपने से आगे कोई भी यात्रा और विकास नहीं देखना चाहती है। शायद प्रत्येक व्यक्ति में जो अहंता और ईर्ष्या होती है, वही अहंता और ईर्ष्या पूरी पीढी को भी पकड लेती है। पहले धर्मगुरु आगे और धर्म संस्थापकों के जन्म की मनाही कर गये हैं। प्रत्येक पैगम्बर अपने आपको अंतिम बता गया है। और प्रत्येक ने स्वयं के सर्वज्ञ होने की भी घोषणा कर रखी है, और इस भांति ज्ञान के आगे और विकास के सब द्वार अवरुद्ध कर दिये हैं। स्वर्णयुग तो पीछे थे! आगे तो सब पतन और ह्रास है! मनुष्य की अतीत के खूंटों से बांधना अत्यंत अकल्याणकर है। लेकिन पुरानी पीढी तो अपने शास्त्र, अपने सिद्धांत, अपने गुरु सभी नयी पीढी पर थोप जाना चाहती है। सैकडों वर्षों से यह होता ही रहा है। और परिणाम में मनुष्य की आत्मा जितनी विकसित हो सकती वह नहीं हो पाई। उसे जो प्रौढता मिल सकती वह नहीं मिल पाई। वह अतीत के पाषाणों के नीचे दबी है, और अतीतसे इतनी भारग्रस्त है कि उसका सभी ऊर्ध्वगमन बंद हो गया है।

शिक्षा को मनुष्य की आत्मा को निर्भार करना है। क्योंकि निर्भार आत्मायें ही परमात्मा के शिखरों तक गति कर सकती हैं। जड संस्कारों का भार चेतना के बीज को अंकुरित ही नहीं होने देता, और वह भूमि में दबा दबा ही नष्ट होता रहता है। अतीत से निर्भार हुये बिना व्यक्ति के स्वयं के व्यक्तित्व का अंकुरण हो ही नहीं सकता है। अतीत की जकड ढीली हो तो ही भविष्य में विकास होता है। अतीत तो सीढी है जिसपर से गुजर जाना है। उसे सिर पर लिये फिरना समझदारी नहीं है।

संसार में भौतिक समृद्धि तो बढती है, क्योंकि हर पीढी उसे पिछले पीढी से आगे ले जाती है। लेकिन आत्मिक समृद्धि नहीं बढती, क्योंकि हमारे मन उस

दिशा में अतीत से अत्यधिक बंधे हुये हैं। पिता ने जो मकान बनाया था, उसे और बडा बनाने में पुत्र संकोच नहीं करता है। लेकिन, राम, कृष्ण या बुद्ध या महावीर या क्राइस्ट जो वसीयत छोड गये हैं, उसके आगे बढाने में कोई बहुत गहरा भय हमारे प्राणों को रोक लेता है। यह भय सिखाया हुआ है। यह भय आरोपित किया हुआ है। गीता पर टीका लिखी जा सकती है, लेकिन गीता से आगे विचार नहीं किया जा सकता। कुरान से आगे कुछ है ही नहीं। इससे मनुष्य जाति अत्यधिक पंगु और आत्मिक दृष्टि से दीन हीन हो गई है। बाप से बेटा आगे जाये इसमें उसका असम्मान या अपमान नहीं है। वस्तुतः इसमें ही उसका सम्मान है। यही उसका गौरव है। प्रत्येक पीढी को हर नयी पीढी को इस भांति तैयार करना चाहिये कि वह उसे सब भांति पीछे छोड दे। वह उससे ही बंधी रहे और उसके दायरे में ही घूमती रहे यह इच्छा रुग्ण है और उससे स्वस्थ मन की सूचना नहीं मिलती है। यह विचार करना जरुरी है कि क्या शिक्षा इन रुग्ण लक्ष्मण रेखाओं को खींचने में सहयोगी नहीं रही है?

मैं तो इस पागलपन को समझ ही नहीं पाता हूं। मेरा प्रेम तो यही कहता है कि जो मेरे पीछे जगत् में आ रहे हैं, वे सब भांति मेरे आगे बढे। वे एक ऐसी दुनियां बनायें जिसकी कि हम कल्पना भी नहीं कर सकते थे। उनकी आत्मा हम से उज्ज्वल हो। उनके विचार हमसे निर्मल हों। उनकी आंखें उन सत्यों का साक्षात्कार करें जो हम नहीं कर सके, और उनके चरण उन अज्ञात पथों का स्पर्श करें जो कि हमें स्वप्न में भी ज्ञात नहीं थे। प्रेम तो ऐसी ही प्रार्थनायें कर सकता है। मैं न तो बच्चों को अपने ज्ञान से बांधना चाहूंगा और न अपने अनुभवों से ही। मैं तो उन्हें मुक्त करना चाहूंगा। प्रेम तो सदा ही मुक्त करता है। जो बांधता है, वह प्रेम ही नहीं है। वह तो हिन्सा ही है।

शिक्षा भविष्योन्मुख होनी चाहिये, अतीतोन्मुख नहीं। तभी विकास हो सकता है। कोई भी सृजनात्मक प्रक्रिया भविष्योन्मुख ही हो सकती है। क्या यह उचित नहीं है कि हम भविष्य के लिये प्रेम और आदर सिखायें? अतीत की अर्थ-हीन पूजा बहुत हो चुकी। क्या अब यह उचित नहीं है कि भविष्य के सूर्योदयों के लिये हमारे हृदयों में प्रार्थनायें हों? लेकिन हम तो अतीत से बंधे हैं। अतीत यानी जो बीत गया है और अब सिवाय स्मृति के और कहीं भी नहीं है। हमारे सारे सिद्धांत, सारी धारणायें, सारे आदर्श अतीत से ही लिये हुये हैं। इस भांति मृत का जीवित पर शासन है। मृत के प्रति सम्मान एक बात है, उसका शासन बिल्कुल ही दूसरी बात है। बल्कि शासन के कारण ही स्वस्थ सम्मान भी

संभव नहीं हो पाता है। शासन के प्रति तो भीतर ही भीतर प्रतिरोध भी संग्रहीत होता रहता है। अतीत के प्रति हार्दिक सम्मान तो तभी होगा जबकि अतीत का कोई भी शासन न हो। वह सम्मान अत्यंत आत्मिक होगा और उस सम्मान में अनुगृह होगा और कृतज्ञता होगी। वह कृतज्ञता हमें बांधेगी नहीं, बल्कि और निर्भार और हल्का करेगी। हृदय उनके प्रति सहज ही कृतज्ञता से भर उठता है जो मुक्त करते हैं। जो बांधते हैं, उनके प्रति कृतज्ञता अस्वाभाविक है और असंभव है।

शिक्षा को ज्ञान का प्रसार कहा जाता है। निश्चय ही उसे ज्ञान का प्रसारक होना चाहिये। लेकिन जो बंधनों को भी प्रसारित करती हो, वह ज्ञान की प्रसारक नहीं हो सकती है।

ज्ञान तो वहां है, जहां मन मुक्त है। मन जहां बंधनों में है, वहां ज्ञान कहां? ज्ञान तो स्वयं ही मुक्ति है।

शिक्षा भय सिखाती है। शिक्षा प्रलोभन सिखाती है। शिक्षा ईर्ष्या और प्रतिस्पर्धा सिखाती है। शिक्षा महत्वाकांक्षा के ज्वर में दीक्षा देती है। ऐसी शिक्षा ज्ञान की प्रसारक कैसे होगी? ऐसी शिक्षा मुक्तिदायी कैसे होगी? ऐसे मनुष्य स्वस्थ कैसे होगा? यह तो घातक रोगों का प्रसार है। मित्र, यह ज्ञान प्रसार तो नहीं है। यह तो अज्ञान का ही प्रसार है।

मैं देखता हूं तो पाता हूं कि भय से अधिक भयानक और कोई बीमारी नहीं है। जीवन में भय से अधिक भयभीत होने को और क्या है? भय तो प्राणों को लकवा ही मार देता है। भय तो विद्रोह की समस्त क्षमता को ही नष्ट कर देता है। भय तो परिवर्तन को असंभव ही बना देता है। भय ज्ञात से बांध देता है और अज्ञात की सब यात्रा बंद हो जाती है, जबकि जीवन में जो भी जानने और पाने योग्य है, वह सब अज्ञात है। परमात्मा अज्ञात है। सत्य अज्ञात है। सौन्दर्य अज्ञात है। प्रेम अज्ञात है। किन्तु भयभीत चित्त तो भय के कारण ज्ञात से ही चिपटा रहता है। वह तो लोक को कभी छोडता ही नहीं। वह तो परिचित पटरियों पर ही दौडता रहता है। वह तो यंत्रवत् हो जाता है और उसकी गति कोल्हू के बैल से भिन्न नहीं होती है। धर्म भय सिखाते हैं। नर्कों का भय। पापों का भय। दंडों का भय। समाज भय सिखाता है। असम्मान का भय। शिक्षा भी भय सिखाती है। असफलता का भय। और साथ ही प्रलोभन हैं। स्वर्ग का प्रलोभन। पुण्य फलों का प्रलोभन। सम्मान, पद, प्रतिष्ठा का प्रलोभन, सफलताओं, पुरस्कारों का प्रलोभन। प्रलोभन भी भय के सिक्के के ही दूसरे पहलू हैं। इस भांति

व्यक्ति चेतना भय से और लोभ से भर जाती है। ईर्ष्या और प्रतिस्पर्धा की अग्नि जलाई जाती है। महत्वाकांक्षा का ज्वर जगाया जाता है। फिर इन सब विवर्तो में जीवन नष्ट हो जाता हो तो कोई आश्चर्य नहीं है। ऐसी शिक्षा खतरनाक है। ऐसे धर्म खतरनाक हैं। शिक्षा तो वह है जो अभय सिखाये। अलोभ में प्रतिष्ठा दे। साहस दे और विद्रोह की शक्ति दे। अज्ञात की चुनौती को मानने की हिम्मत दे। ईर्ष्या, प्रतिस्पर्धा नहीं, प्रेम सिखाये। महत्वाकांक्षा की ज्वरग्रस्त गति नहीं, वरन् सहज स्व-स्फूर्त विकास दे। लेकिन, यह तो तभी होगा जब हम प्रत्येक व्यक्ति की निजता की अद्वितीयता को स्वीकार करेंगे। किसी की किसी से तुलना आधारभूत भूल है। तुलना से स्पर्धा पैदा होती है। न कोई किसी से आगे है, न पीछे। न कोई किसी से ऊपर है, न नीचे। प्रत्येक वही है, जो वह है, और प्रत्येक को वही होना है। आदर्शों की सिखावन यह नहीं होने देती है। बच्चों को कहा जाता है, राम जैसे बनो, बुद्ध जैसे बनो, गांधी जैसे बनो। इससे भूल भरी बात और क्या होगी? या कोई किसी और जैसा बन सकता है या कि कभी बन सका है? राम तो बनना असंभव है। हां, रामलीला के राम जरूर बन सकते हैं! इसी कारण तो संसार में इतना पाखंड है। पाखंड आदर्श की छाया है। जब तक आदर्श थोपे जायेंगे तब तक पाखंड भी रहेंगे। पाखंड को मिटाना है तो आदर्शों को छोडना आवश्यक है। वस्तुतः कोई भी मनुष्य किसी दूसरा जैसा होने को पैदा नहीं हुआ है। प्रत्येक को स्वयं जैसा ही होना है। प्रत्येक को उस बीज को ही वृक्ष तक पहुंचाना है जो कि उसमें ही छिपा है, और मौजूद है। शिक्षा जिस दिन भी व्यक्ति की अद्वितीय और बेजोड निजता के सत्य को स्वीकार करेगी, उस दिन ही एक बडी क्रांति का सूत्रपात हो जायेगा। फिर हम किसी के ऊपर किसी ओर के ढांचें को नहीं थोपेंगे। वरन् उस व्यक्ति बीज में ही जो प्रसुप्त है उसके जागरण के लिये ही चेष्टारत होंगे। आदर्शों के कारण हिन्सा बहुत होती रही है और व्यक्ति को वही होने का अवसर नहीं दिया जा सका है जो कि वह हो सकता है। और अन्य होने के प्रयास में अन्य तो कोई हो ही नहीं पाता है। हां, वह होने से जरुर वंचित रह जाता है जो कि वह हो सकता था।

मैं अत्यंत विनम्रता से यह निवेदन करना चाहता हूं कि मनुष्य को वही होने दें, जो कि होने को वह पैदा हुआ है। गुलाब गुलाब है और चमेली चमेली और जुही जुही। और कोई किसी से न छोटा है, न बडा है। गुलाब को चमेली नहीं होना है और चमेली को जुही नहीं होना है। यह छोटे बडे और ऊंचे नीचे का मूल्यांकन एकदम झूठा और बेहूदा है। इस मूल्यांकन को नष्ट करें। कवि

चमार से बडा नहीं है और न राजनेता ही किसी से बडा है। एक अध्यापक राष्ट्रपति होने से बडा नहीं हो जाता है। जीवन एक सहयोग है। उसमें सबका अपना अपना स्थान है और सबकी आवश्यकता है और अनिवार्यता है। कार्यों के साथ पद और प्रतिष्ठा जोडने से सारी दुनियां जिस महत्वाकांक्षा की विक्षिप्तता में पड गई है, क्या वह आपको दिखाई नहीं पड रही है? यह मूर्खतापूर्ण है कि गुलाब को जुही होने का उपदेश दिया जावे या कि घास के फूल को कमल होने के लिये उकसाया जावे। अर्थपूर्ण बात इतनी ही है कि गुलाब पूरा विकसित हो और घास का फूल भी पूरा विकसित हो। उनकी पखुडियां अविकसित न रह जायें और उनकी सुवास उनमें ही बंद न रह जावे। स्वयं की संभावनायें पूरी विकसित हों, इसके अतिरिक्त जीवन का और कोई आनन्द नहीं है। और शिक्षा के कार्य की सम्यक् दिशा यही है।

आदर्श सिखाने की आवश्यकता नहीं है और न ही किसी का अनुशरण सिखाने की जरुरत है। व्यक्ति का निज व्यक्तित्व पूर्णता को कैसे प्राप्त हो, इस ओर ही सारे प्रयास केन्द्रित होने चाहिये। और तब ही महत्वाकांक्षा से मुक्ति होगी और ईर्ष्या के ज्वर से छूटकारा होगा और एक ऐसा समाज निर्मित हो सकेगा जो कि समता और शांति को उपलब्ध हो सके। महत्वाकांक्षा से मुक्त समाज ही वर्गविहीन और शोषणशून्य हो सकता है।

क्या ऐसी शिक्षा नहीं हो सकती है जो कि महत्वाकांक्षा पर आधारित न हो? क्या गणित या संगीत इसीलिये सीखा जा सकता है कि उन्हें सीखनेवाले दूसरे साथियों से आगे निकलना है? क्या गणित के प्रेम से ही गणित और संगीत के आनन्द से ही संगीत नहीं सीखा जा सकता है? मैं तो देखता हूं कि वस्तुतः संगीत तभी सीखा जा सकता है और उसकी गहराईयां तभी स्पर्श की जा सकती हैं, जब संगीत से ही प्रेम हो और किसी अन्य से प्रतिस्पर्धा नहीं। प्रतिस्पर्धी मन क्या संगीत को जानेगा? प्रतिस्पर्धा तो विसंगीत ही है। उन्होंने ही संगीत को जाना है जो संगीत में डूबे हैं, प्रतिस्पर्धा में दौडे नहीं। दौडने और डूबने में विरोध है। दौडना तनाव है। डूबना विश्रांति है। दौड ज्वर है। वह स्वयं के बाहर ले जाती है। डूबना स्वास्थ है। क्योंकि डूबकर व्यक्ति स्वयं की ही आत्यंतिक गहराइयों में प्रतिष्ठा पाता है। विद्या तो डूबने की कला है। और जो दौडना ही सिखाती है, उसे मैं अविद्या कहता हूं।

एक दिन शिक्षकों की सभा में गया था। शिक्षक दिवस का समारोह था। वहां मैंने उनसे कहा : एक शिक्षक राष्ट्रपति हो जाय, तो इसमें शिक्षक का सम्मान क्या है? क्या शिक्षक नीचे और राष्ट्रपति ऊपर है? यदि ऐसा है तब तो यह शिक्षक

या शिक्षा की प्रतिष्ठा नहीं, राजपद और राजनीति की ही प्रतिष्ठा है। हां, एक राष्ट्रपति अपना पद छोड शिक्षक हो तब शायद शिक्षक के लिये सम्मान की बात हो भी सकती है। राजपदों को हम जब तक ऊपर रखते हैं, तब तक हम बच्चों को जाने अनजाने राजनीति ही सिखाते हैं। हालाकि राजनैतिज्ञ कहते हैं कि शिक्षकों और विद्यार्थियों को राजनीति से कोई वास्ता नहीं रखना चाहिये। राजपदों की प्रतिष्ठा दूसरों में भी आकांक्षाको जगाती है, और यदि दूसरे शिक्षक भी शिक्षक होना छोड शिक्षा मंत्री और उपराष्ट्रपति और राष्ट्रपति होने के सपने देखते हों, और उन स्वप्नों को पूरा करने के लिये दौड धूप करते हों तो आश्चर्य कैसा ? यह तो स्वाभाविक ही है। और अन्य शिक्षक भी यदि शिक्षक जातिको सम्मानित कराने में लगे हों तो कुछ बुरा तो नहीं है ?

शिक्षा को महत्वाकांक्षा से मुक्त होना ही चाहिये। महत्वाकांक्षा ही तो राजनीति है। महत्वाकांक्षा के कारण ही तो राजनीति सबके ऊपर सिंहासन पर विराजमान हो गई है। सम्मान वहां है जहां पद है। पद वहां है जहां शक्ति है। शक्ति वहां है जहां राज्य है। इस दौड से जीवन में हिन्सा पैदा होती है। महत्वाकांक्षी चित्त हिंसक-चित्त है। अहिन्सा के पाठ पढाये जाते हैं। साथ ही महत्वाकांक्षा भी सिखाई जाती है। इससे ज्यादा मूढता और क्या हो सकती है ? अहिन्सा प्रेम है। महत्वाकांक्षा प्रतिस्पर्धा है। प्रेम सदा पीछे रहना चाहता है। प्रतिस्पर्धा आगे होना चाहती है। क्राइस्ट ने कहा है : "धन्य हैं वे, जो पीछे होने में समर्थ हैं." मैं जिसे प्रेम करुंगा, उसे आगे देखना चाहूंगा और यदि मैं सभी को प्रेम करुंगा तो स्वयं को सबसे पीछे खडाकर आनन्दित हो उठूंगा। लेकिन प्रतिस्पर्धा प्रेम से बिल्कुल उल्टी है। वह तो ईर्ष्या है। वह तो घृणा है। वह तो हिन्सा है। वह तो सब भांति सबसे आगे होना चाहती है। इस आगे होने की होड की शुरुआत शिक्षालयों में ही होती है और फिर कब्रस्तान तक चलती है। व्यक्तियों में यही दौड है। राष्ट्रों में भी यही दौड है। युद्ध इस दौड के ही तो अंतिम फल हैं। यह दौड क्यों है ? इस दौड के मूल में क्या है ? मूल में है : अहंकार। अहंकार सिखाया जाता है। अहंकार का पोषण किया जाता है। छोटे छोटे बच्चों में अहंकार को जगाया और जलाया जाता है। उनके निर्दोष और सरल चित्त अहंकार से विषाक्त किये जाते हैं। उन्हें भी प्रथम होने के लिये प्रोत्साहित किया जाता है। स्वर्ण पदक और सम्मान और पुरस्कार बांटे जाते है। फिर यही अहंकार जीवन भर प्रेत की भांति उनका पीछा करता है और उन्हें मरते तक चैन नहीं लेने देता। विनय के उपदेश दिये जाते हैं और सिखाया अहंकार जाता है। क्या वह दिन मनुष्य जाति के इतिहास में सबसे

बडे सौभाग्य का दिन नहीं होगा जिस दिन हम बच्चों को अहंकार सिखाना बंद कर देंगे ? अहंकार नहीं, प्रेम सिखाना है । और प्रेम वहां होता है, जहां अहंकार नहीं है । इसके लिये शिक्षण की आमूल पद्धति ही बदलनी होगी । प्रथम और अंतिम की कोटियां तोडनी होंगी । परीक्षाओं को समाप्त करना होगा । और इन सबकी जगह जीवन के उन मल्यों की स्थापना करनी होगी जो कि अहंशून्य और प्रेमपूर्ण जीवन को सर्वोच्च जीवन दर्शन मानने से पैदा होते हैं ।

प्रेम जब प्रतिस्पर्धा की जगह लेता है तब सहज ही सफलता की जगह सत्य की प्रतिष्ठा हो जाती है । सफलता ही जिस जीवन व्यवस्था में एकमात्र मूल्य है, वहां सत्य नहीं हो सकता है । सफलता की केन्द्रीय महत्ता ने सुफलता के प्राण ही ले लिये हैं । नहीं, सफल हो जाना ही सब कुछ नहीं है । मात्र सफलता कोई मूल्य ही नहीं है । एक बुरे काम में सफल होने की बजाय एक शुभ कार्य में असफल होना ही ज्यादा मूल्य की और गौरव की बात है । प्रतिस्पर्धा में सफल होने की बजाय प्रेम में सफल होना ही कहीं ज्यादा शुभ है । धन में सफल होने की बजाय धर्म में असफल होना भी क्या ज्यादा मूल्यवान नहीं है ?

मैं जीवन का मूल्य मात्र सफलता में ही नहीं देखता हूं । मैं उसे देखता हूं सत्य में, शिवत्व में, सौन्दर्य में । लेकिन सफलता ही जब तक हर बात का मापदंड है, तब तक सत्य की, शिव की और सौन्दर्य की ओर मनुष्य की आत्मा गतिवान् नहीं हो सकती है । सत्य के लिये, शिवत्व के लिये, सौन्दर्य के लिये असफलता को भी सीखा जाना चाहिये । उस दिशा में असफलता भी गौरव है, यही दृष्टि पैदा होनी चाहिये । सत्य के लिये हार जाना भी जीत है । क्योंकि उसके लिये हारने के साहस में ही आत्मा सबल होती है और उन शिखरों को छू पाती है, जो कि परमात्मा के प्रकाश से आलोकित हैं ।

विजय और पराजय अर्थहीन हैं । अर्थ है : मोर्चे का । किस मोर्चे पर विजय या पराजय ? सत्य के या असत्य के ? प्रेम के या घृणा के ? मनुष्यता के या दानवता के ? और मैं कहता हूं कि धन्य हैं वे लोग जो कि असत्य की विजय को छोडते हैं और सत्य के साथ पराजय को आलिंगन करते हैं; क्योंकि इस भांति हारकर भी वे जीत जाते हैं और मिटकर भी उसे पा लेते हैं जो कि अमृत है । लेकिन यह सब तभी संभव है जब शिक्षा में आमूल क्रांति हो और मात्र सफलता और विजय के वे मूल्य अपदस्थ हों जिन्होंने कि सदियों से मनुष्य को पीडित कर रखा है ।

सत्य की दिशा में सबसे बडा अपराध तो तब हो जाता है, जब हम सत्य के

संबंध म रुढ धारणाओं को बच्चों के ऊपर थोपने का आग्रह करते हैं। यह आग्रह अत्यंत घातक दुरागृह है। परमात्मा और आत्मा के संबंध के विश्वास या अविश्वास बच्चों पर थोपे जाते हैं। गीता, कुरान, कृष्ण, महावीर उनपर थोपे जाते हैं। इस भांति सत्य के संबंध में उनकी जिज्ञासा पैदा ही नहीं हो पाती है। वे स्वयं के प्रश्नों को ही उपलब्ध नहीं हो पाते हैं और तब स्वयं के समाधानों को खोज लेने का तो सवाल ही नहीं है। बने बनाये तैयार समाधानों को ही वे फिर जीवन भर दुहराते रहते हैं। उनकी स्थिति तोतों के जैसी हो जाती है। पुनरुक्ति चिन्तन नहीं है। पुनरुक्ति तो जडता है। सत्य किसी और से नहीं पाया जा सकता है। उसे तो स्वयं ही खोजना और पाना होता है। क्या यह उचित नहीं है कि बच्चों की जिज्ञासा जगाई जाय लेकिन उन्हें समाधानों से न जकडा जाये? उनमें प्रश्न पैदा किये जायें, लेकिन उन्हें उधार उत्तरों से न भरा जाय? शिक्षा यदि उन्हें जीवन सत्य के अनुसंधान की महत् यात्रा पर ही भेज सके तो उसका कार्य पूरा हो जाता है।

मेरी दृष्टि में शिक्षक वही है जो प्रसुप्त समस्याओं को जगा देता है, और जिज्ञासा को जाग्रत कर देता है, और बच्चों को उनके स्वयं के अनुसंधान के लिये साहस और अभय से भर देता है। लेकिन कोई भी व्यक्ति इस अर्थ में शिक्षक तभी हो सकता है, जब वह स्वयं आग्रहों और पक्षपातों से मुक्त हो। इसलिये शिक्षक होना बडी साधना है। शिक्षक होने के लिये अत्यंत विद्रोही, सजग और सचेत आत्मा चाहिये। जिस शिक्षक में विद्रोह की अग्नि नहीं है, वह जाने या अनजाने किसी स्वार्थ, किसी नीति, किसी धर्म, या किसी राजनीति का दलाल हो ही जायेगा। क्योंकि तब वह उन पक्षपातों को और उन धारणाओं को बच्चों पर आरोपित करेगा जिनमें कि वह स्वयं ही कैद है। शिक्षक स्वयं स्वतंत्र हो तभी वह विद्यार्थी के लिये भी स्वतंत्रता का संदेशवाहक हो सकता है। इसलिये मैंने कहा कि शिक्षक होना बडी साधना है। वह बडा विद्रोह है। शिक्षक के भीतर एक ज्वलन्त अग्नि होनी चाहिये, चिन्तन की, विचार की, विद्रोह की। उसे बहुत कुछ विध्वंश भी करना है ताकि वह सृजन कर सके। उसे बहुत कुछ मिटाना है ताकि वह कुछ बना सके। उसे परंपराओं से छोडा गया बहुत सा कूडा करकट जलाना है और व्यर्थ के घातपात से मनुष्य के मन की भूमि को साफ करना है ताकि उस पर प्रेम के और सौन्दर्य के फूलों की खेती हो सके। यह बहुत बडा उत्तरदायित्व है। यदि शिक्षक इसे पूरा कर सकेगा तो ही एक नये मनुष्य का और एक नयी मनुष्यता का जन्म हो सकता है।

ज्ञान गंगा

(चर्चाओं से संकलित)

संकलक : डा. सेठ गोविन्ददास, एम. पी.

१ नीति और धर्म

वर्तमान में संसार का जो नैतिक ह्रास हो गया है और वह जिस तेजी से अनैतिकता के गर्त की ओर अग्रसर है वह सारे संसार के लिए स्वयं एक समस्या बन गई है। आये दिनों विचारक, चिंतक इस समस्या के किसी ऐसे मनोवैज्ञानिक समाधान के लिए मनन चिंतन करते रहते हैं जिससे इस समस्या का समाधान हो, और व्यष्टि तथा समष्टि का जीवन उन्नत और नैतिक बने। किंतु 'ज्यों-ज्यों दवा की मर्ज बढ़ता ही गया,' उक्ति के अनुसार अनुभव यह किया जा रहा है कि अभी तक इस समस्या का कोई ठोस और व्यवहारिक हल निकलता नजर नहीं आ रहा है। इस समस्या के संदर्भ में हम यहां यह देखने का प्रयत्न कर रहे हैं कि वस्तुतः नैतिकता जिसका ह्रास हम अनुभव कर रहे है वह है क्या वस्तु तथा व्यष्टि और समष्टि के जीवन से उसका क्या संबंध है?

मानव एक सामाजिक प्राणी है, गिरी कन्दराओं में रहनेवाला कोई चौपद हिंसक पशु नहीं। और न ही वह कोई ऐसा जीवधारी है जो जल, थल अथवा नभ के उन्मुक्त क्षेत्र में एकाकी घूम फिर सके अथवा मनचाहा भटकता फिरे या विचरण करता रहे। उसकी तो एक विशिष्ट जीवन पद्धति है जिसके अनुसार उसे जीना पडता है, उसका अपना एक विशिष्ट क्षेत्र है जिसमें उसे काम करना

पड़ता है, तथा उसके कुछ विशिष्ट उद्देश्य और आदर्श होते हैं, जिन्हें उसे प्राप्त करना होता है। स्पष्ट है ये तीनों बातें अन्य जीवों के लिए लाजिमी नहीं होती। फिर मनुष्य का जीवन और उसके समस्त कार्य व्यापार उत्तरदायी और प्रभावी होते है। समस्त मानव-समाज पर जबकि पशु या अन्य जीवन में यह बात नहीं है। उदाहरण के लिए:—साहित्यकार, कलाकार अथवा वैज्ञानिक के प्रयत्न उसका परिश्रम, उसकी साधना समस्त समाज के हित-अहित का साधन बनती है जबकि यदि कोई पशु या अन्य जीव किसी भी प्रकार का परिश्रम करे उसके लिए मात्र वही उत्तरदायी होगा।

मानव में और अन्य जीवों में जीवन का जो भेद होता है वह मूलत: प्रेम और श्रेय का भेद है। पशु-पक्षी अथवा अन्य जीव जो उन्हें प्रिय लगता है वही करते हैं, किंतु मनुष्य के साथ यह बात नहीं। उसे जो प्रिय लगे उसे करने में वह पशुओं की भांति स्वतंत्र तो है पर उसे आचरण का रूप देने के पूर्व अपने प्रेम पक्ष से प्रेरित होने के पूर्व श्रेय पक्ष को भी देखना पडता है; और अधिकांशत:अनेक बार देखा यह जाता है कि उसे प्रेमसे अपने पग पीछे हटा श्रेय को प्राप्त करने की दिशा में ही पग उठाना पड़ता है।

मनुष्य मूलत: दो प्रकार से जीता है: एक वासनाओं के आधार पर जैसे अन्य जीव पशु-पक्षी, जलचर, कृमि, कीटक आदि। दूसरे जीवन के वास्तविक मूल्यों के आधार पर । पहले प्रकार के जीवन को प्रेमकी संज्ञा और दूसरे प्रकार के जीवन को श्रेय की संज्ञा दी गई है। हमारी इन्द्रियों को जो प्रिय लगे उस प्रिय से प्रेरित जीवन प्रेम जीवन है और हमारे विवेक को जो अच्छा लग उसके अनुसार जीना श्रेय जीवन है। मनुष्य के सामने आज केवल प्रेम जीवन जो मात्र वासनाओं से प्रेरित होता है रह गया है. वास्तविक मूल्यों के आधार वाला श्रेय नहीं। यही मनुष्य के नैतिक पतन का कारण है, और इसी वजह से संसार का नैतिक ह्रास हुआ है।

श्रेय जीवन क्या है? इस संबंध में एक उपनिषद् वाक्य आया है—

"आत्मन: प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।"

अर्थात जिस प्रकार के व्यवहार को तुम अपने प्रति किया जाना प्रतिकूल समझते हो, वैसा व्यवहार दूसरों के प्रति मत करो।

यही बात महात्मा ईसा ने एक दूसरे प्रकार से कही है—वे कहते हैं—"दूसरे के साथ वही व्यवहार करो जो आप चाहते हो कि दूसरा आपके साथ करे।" बाईबिल के अंग्रजी अनुवाद में ईसा के निम्नलिखित शब्द है:—
"Do unto others as you would like to be done with you"

उपनिषद् का उक्त कथन और ईसा का उपर्युक्त वाक्य–श्रेय जीवन की आधारभूत शिला है।

मानव जीवन में जो श्रेय है, वह प्रेम हो सकता है, पर वह अनिवार्यतः प्रेम नहीं होता। कर्तव्य निर्वाह के लिए अनेक बार हमें प्रेम को छोड श्रेय को पकडना पडता है इसीलिए प्रेम और श्रेय में बहुधा संघर्ष होता है। संघर्ष की स्थिति में प्रमादवश जो प्रेम को चुनता है वह अनैतिक है, और जो श्रेय को चुनता है वही नैतिक है। मनुष्य की वृत्तियां (Instincts) सदा प्रेम के लिए लालायित रहती हैं, मनुष्य का विवेक सदा श्रेय के प्रति आकर्षित रहता है। इसलिए नीति और अनीति का संघर्ष मूलतः वृत्तियों और विवेक का संघर्ष है। केवल वृत्तिवाला वासना प्रेरित जीवन रह जाय तो मनुष्य पशु हो जाता है, और यदि सिर्फ विवेकवाला जीवन रह जाय तो मनुष्य दिव्य (परमात्म स्वरूप) हो जाता है।

साधारणतया जो प्रचलित रूढ़िवादी लोकनीति है वह प्रलोभन और भय पर आधारित है, विवेक पर नहीं। जैसे सदाचार के लिए स्वर्ग का प्रलोभन और अनाचार के लिए नरक का भय।

सारे धर्म पारलौकिक प्रलोभन और भय का प्रतिपादन करते हैं। लौकिक संसार में पापी या अनैतिक व्यक्ति भी सम्पन्न, समृद्ध और सफल देखे जाते हैं और पुण्यात्मा भी दरिद्र दुःखी और असफल। इस कारण पारलौकिक प्रलोभन और भय मनुष्य को नैतिक बनाने के लिए धर्म प्रतिपादन करता है। परंतु, यह नीति का वास्तविक आधार न तो है और न हो सकता है, क्योंकि भय के कारण जो नैतिक है वह वास्तव में नैतिक है ही नहीं। वह तो ऐसा है जैसे पुलिस का सिपाही खड़ा रहे और कोई चोरी न करे। याने चोरी न करने का कारण उसके विवेक की जागृति नहीं है किंतु बाहर का भय है, जो उसकी वृत्ति का निरोध कर रहा है। वास्तविक नैतिक व्यक्ति तो वह है जो नैतिक होने के लिए अवसर और प्रलोभन दोनों के होते हुए भी अनैतिक न हो, और जो अनैतिकता छोडने के लिए चाहे कितनी ही यंत्रणाओं और अनिष्ट आशंकाओं में क्यों न घिरा रहे, नैतिकता न छोडे। नैतिक व्यक्ति का लक्षण अभय है। इसीलिए गीता में दैवी और आसुरी संपत्ति के जीवों का जो वर्णन किया गया है वहां दैवी जीव का अभय पहला लक्षण कहा गया है। अतः भय पर खडी हुई जितनी भी नीतियां है वे मनुष्य के जीवन प्रवर्तन का मूलाधार नहीं बन सकती। उनके द्वारा अधिक से अधिक उसका आचरण रोका जा सकता है,

अथवा बदला जा सकता है परंतु अन्तःकरण नहीं, जबकि नीति का मूल संबंध आचरण से नहीं अन्तःकरण से है। जब तक अन्तःकरण शुद्ध नहीं होगा आचरण के स्थायी शुद्धता की आशा नहीं की जा सकती। और जब अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, तो आचरण अपने आप शुद्ध हो जाता है। वर्तमान युग में नीति के पतन का मुख्य कारण यही है कि आज के मनुष्य को न तो पारलौकिक प्रलोभन प्रभावित करते है और न पारलौकिक भय भयभीत करते है। विज्ञान ने मानव को तर्क शील बना दिया है। आज का मानव कल्पना लोक स्वप्न जाल रूढ़ियों, और अंधविश्वासों से बाहर निकलकर यथार्थवादी बन गया है, फिर विज्ञान के प्रत्यक्ष परिणामों से उसे जो आत्मविश्वास मिला है, और जगत के यथार्थ पर जो नियंत्रण उसके कारण उसने स्वर्ग और नरक को कल्पना मानकर अस्वीकार कर दिया है। स्वर्ग और नरक की इस अस्वीकृति के कारण प्रलोभन और भय पर आधारित नीति के समस्त स्तंभ गिर गये है। यदि हमें मनुष्य को नीति युक्त बनाना है तो हमें प्रलोभन और भय पर आधारित नीति की जगह विवेक पर निर्भर नीति को जन्म देना होगा।

फिर भय निर्भर नीति अन्य वृत्तियों के विरोध में मनुष्य की एक भय वृत्ति को ही खडा कर देती है। अन्य वृत्तियों के विरोध में किसी एक वृत्ति को ही खडा करके जो नीति निर्धारित होती है वह गलत है। उदाहरण के लिए चोरी करने की वृत्ति जागृत होने पर भय की वृत्ति को उसे रोकने के काम में लाया जा सकता है, अथवा असत्य बोलने से दंड मिलेगा इस कारण सत्य बुलवाया जा सकता है। मनुष्य को नैतिक बनाने की परम्परा सम्पत् विधि यही रही है, इस भांति विना विवेक को जगाये व्यक्ति को नैतिक होने का भ्रम पैदा हो जाता है।

जबकि वास्तविक नीति का जन्म वृत्तियों के विरोध में किसी वृत्ति को नहीं वरन् विवेक को खडा करने से होता है। पहली स्थितिमें व्यक्तिको ठीक और गैरठीक का न तो बोध होता है न विश्वास और न आकर्षण। इसीलिए जब भी उसे उसके विपरीत आचरण की सुविधा मिलेगी वह उस ओर चला जायगा। जीवन रूपी सागर में मानव स्वयं एक जहाज है। जिसका केवट भी वह स्वयं ही है। जब यह अपने इस जहाज की पतवार अपनी वृत्तियों को सोंप देता है तो हवा और झंझावातों के थपेडों में वह यहां वहां भटकती रहती है, किंतु जब वह पतवार विवेक के हाथ थमा देता है तो किनारे लग जाती है। यही इस समय समस्त संसार में हो रहा है। गत सहस्रों वर्षो से भय अथवा प्रलोभन के द्वारा व्यष्टि और समष्टि की दृष्टि से नैतिक बनानेका जो उपक्रम चलता आ रहा है वह अब असंभव है। यही

कारण है कि सारी पुरानी शिक्षाएं, सारे पुराने आदर्श, सारे पुराने जीवन मूल्य आज असंगत हो गये हैं।

जीवन की इस असंगति विसंगति और विकृति को दूर करने का आखिर उपाय क्या है ? भूले भटके और भ्रान्त पथिक को सही मार्ग मालूम करने और अपने लक्ष्य तक पहुंचने के लिए केवल उसके नेत्र और पैरों का सशक्त होना ही काफी नहीं है। वह तो उसके साथ थे ही जब भी वह भूल भटक गया, उनके रहते आगे भी भटक सकता है, होना चाहिए उसके साथ एक सतत् सतर्क, सचेष्ट मार्ग दर्शक। यह मार्ग दर्शक क्या है, कौन है ? कोई अनायास मार्ग में मिलने वाला बटौही नहीं, अपितु अपना स्वयं का विवेक है जो किसी बटोही की भांति क्षणिक निर्देश देनेवाला नहीं अपितु सत्वर साथ रहने वाला, सहधर्मी है। यही विवेक जो वृत्तियों, प्रलोभनों और भय-भवन में प्रसुप्त हुआ पड़ा है इसे जाग्रत करने का जो विज्ञान है, विधान है, वही सच्चा धर्म है। ऐसा धर्म मनुष्य के भीतर इस प्रकार की जागरूकता और होश पैदा कर सकता है कि उसके प्रकाश में वृत्तियां चित्त की मालिक नहीं रह जाती, वरन् दास बन जाती हैं। वे संचालक नहीं रहतीं, वरन् संचालित हो जाती है। जैसे आंख खराब होने पर आदमी लाठी लेकर चलता है किंतु आंख ठीक हो जाने पर लाठी व्यर्थ हो जाती है। लाठी कोई आंख नहीं थी; वह तो किसी भांति चलने की व्यवस्था कर लेना था। ऐसी ही हर प्रलोमन और भय निर्धारित नीति है। वह कोई आंख नहीं है वह तो किसी भांति आचरण को व्यवस्थित कर लेता है। विवेक के जागरण से आंख उपलब्ध होती है और जैसे आंख वाले व्यक्ति का दरवाजा छोड-कर दिवाल से टकराना असंभव है। वैसे ही जिसे विवेक की दृष्टि उपलब्ध हो गई है उसे शुभ को छोडकर, अशुभ करना असंभव हो जाता है।

यह विवेक धर्म का जो मूल विज्ञान है उसके अनुसार वृत्तियों को शांत निस्पंद कर मनुष्य के भीतर जो ज्ञान की शक्ति है उस ज्ञान पर चिंतन मनन और निदिध्यासन से होता है। हमारे भीतर हमारी सब वृत्तियों का भी दृष्टा मौजूद है। जब हम क्रोध करते हैं तब वह भी मौजूद है जो उस क्रोध को देखता है। जब हम व्यभिचार करते हैं तब भी वह उपस्थित रहता है जो उस व्यभिचार का अव-लोकन करता है। जब हम चोरी करते हैं तब भी वह मौजूद रहता है जो चोरी के इस कृत्य को देखता है। वह देखने वाला तत्व ही हमारा विवेक है। इसीलिए बुरे काम करने के लिए किसी तरह का नशा सहयोगी हो जाता है। इस देखने वाले तत्व को निरन्तर मनन करने से और प्रत्येक क्रिया में स्मरण करने से अर्थात् जब हम कोई भी कार्य करें तब हमें यह स्मरण रहे कि कोई हमारे भीतर देख रहा है,

ऐसा सतत् अभ्यास सोये विवेक को जगा देता है। इसे बुद्ध ने सम्यक स्मृति ("Right mind fulness") कहा है। यह विवेक धर्म का केन्द्रीय तत्व है और इससे ही नीति की, नैतिक जीवन की स्फुरणा होती है। धर्म विधि है, नीतिफल है।

सत्य और उसे पाने का अधिकार

जितना पुराना मनुष्य का इतिहास है उतनी ही पुरानी उसकी सत्य की खोज है। हजारों वर्ष इस खोज पर व्यय हुए हैं। पर हम कहां तक पहुंचे है यह कहना आज भी कठिन है। कुछ थोडे से व्यक्तियों ने सत्य जाना होगा लेकिन समाज जहां था वहीं है। समाज के तल पर सत्य की कोई उपलब्धि नहीं हुई। इसके पीछे क्या कारण है? निश्चय ही सत्य की अनुभूति वैयक्तिक है और इसलिए समाज की दृष्टि से उसकी कोई उपलब्धि नहीं दिखाई पड़ती। इसके साथ ही जिन्हें सत्य का अनुभव हुआ है उनके शब्द भी बाधा बन गये है। उन शब्दों के प्रति मोह पैदा हो गया है और उनसे चिपटे रहने की एक आदत बन गई है। फिर हम उन्हीं शब्दों को दोहराये चले जाते हैं, जबकि सत्य को दोहराया नहीं जा सकता। उसकी अनुभूति तो स्वयं ही करनी होती है। दोहराने वाला मस्तिष्क बार-बार यांत्रिक रूप से दोहराने के कारण ही विचार की शक्ति भी खो देता है, और वह ताजगी भी उसकी नष्ट हो जाती है जोकि सत्य के साक्षात के लिये अत्यन्त अनिवार्य भूमिका है। ऐसे मस्तिष्क में शब्द ही शब्द रह जाते हैं और वह ताजगी भी उसकी नष्ट हो जाती है, और उनके बोझ के कारण उसकी स्वयं की दृष्टि घुंधली और धूमिल हो जाती है, जबकि विचार का जन्म सदा स्वतंत्र में ही होता है और परतन्त्रता उसके जन्म में बाधा हो जाती है। दूसरों के शब्दों को दोहराने वाले मस्तिष्क से ज्यादा परतंत्र हुआ चित्त और क्या हो सकता है? इस भांति जो शास्त्र और शास्ता सत्य की ओर इंगित करते हैं वे ही सत्य के मार्ग में बाधा बन जाते हैं। इसका उत्तर-दायित्व उन शास्त्रों और शास्ताओंपर नहीं, हम पर ही है। हम उन्हें दोहराने लगते हैं और वहीं सब भूल हो जाती है। हम उन्हें अंधे होकर स्वीकार कर लेते हैं और इसी कारण जो मार्ग सीढ़ियां हो सकती थीं वे ही मार्ग में अवरोध के पत्थर हो जाते हैं।

सत्य की ओर उन्मुख होने के लिए सभी भांति के शब्दबन्धन से मुक्त हो जाना आवश्यक है। फिर चाहे वे शब्द कितने ही पवित्र ग्रन्थों के क्यों न हों, और उन्हें कहने वाले किसी भी स्थिति को क्यों न पहुंच गये हों। चित्त शब्दों से जितना निर्भार हो उतना ही उर्ध्वगमन के लिए समर्थ हो जाता है। चित्त का

भार ही विवेक की शिक्षा को ऊपर नहीं उठाने देता, और न ही जो है उसे देखने देता है।

परमात्मा का यदि कोई शास्त्र है तो प्रकृति है। लेकिन हम प्रकृति को भी नहीं देख पाते हैं, क्योंकि हम उसके संबंध में भी पूर्व धारणाओं से भरे होते हैं। किसी तथ्य को भी देखना असंभव हो जाता है यदि हमारे मनमें उसके प्रति कोई धारणा, व्याख्या या पूर्वपक्ष हो। तथ्य को तथ्य की भांति देखना बड़ा कठिन है। वह भी एक साधना है। अन्यथा हम उसे वैसा देख लेते हैं जैसा देखना चाहते हैं। हम स्वयं के पूर्व निर्धारित मत को ही उस पर मढ़ देते है। बहुत कम लोग हैं जो तथ्यों को जैसे वे हैं वैसा ही देखते हों और जो तथ्य को ही देखने में समर्थ नहीं वह सत्य को देखने में कैसे समर्थ होगा। तथ्य सत्य की ही अभिव्यक्तियां है। यदि हम तथ्य के प्राणों में प्रवेश करें तो सत्य को पहुंच जावेंगे। तथ्य अनेक हैं सत्य एक है। जैसे किसी वृत्त की परिधि के किसी भी बिंदु से यदि केन्द्र की ओर यात्रा करें तो सभी बिन्दुओं से चलने वाले यात्री एक ही बिन्दु पर पहुंच जायेंगे। परिधि के बिन्दु अनेक हैं पर केन्द्र का बिन्दु एक ही है। किंतु वे सभी बिन्दु उस एक बिन्दु की ओर ले जाने में समर्थ है। उन सभी गली पगडंडियों की भांति जो जाकर अंत में उस सार्वजनिक मार्ग से मिलती है जो सीधा और लम्बा है और अपने गन्तव्य तक गया है तथा बीच में कहीं किसी से नहीं मिला। इसी भांति जगत के तथ्य है, यदि हम किसी भी तथ्य में पूर्ण प्रवेश करें तो अन्ततोगत्वा जो केन्द्र हमें उपलब्ध होगा वही सत्य है। तथ्य और सत्य का यही अन्तर, यही भेद प्रकृति और परमात्मा का, जीव और ईश्वर का भेद है, जो इस भेद, इस रहस्य को जान जाते हैं उन्हें सत्य का साक्षात्कार हो जाता है। प्रकृति परमात्मा की परिधि है, उसका परिधान है। जिस प्रकार वस्त्र परिधान से अलंकृत किसी वस्तु के वास्तविक रूप को हम नहीं देख पाते हैं, उसे तो उस परिधान के पार ही देखा जा सकता है, उसी प्रकार प्रकृति के पीछे जाना होगा। उसी प्रकार जिस प्रकार विस्तीर्ण फैले गहरे समुद्र के जलमय क्षेत्र में जल के नीचे तल भी है, किन्तु पानी की अनवरत परतों के कारण हम उसे कब देख पाते हैं? किंतु जो उसका अवगाहन करता है, उसके पार जाता है, याने उसमें गहरी डुबकी लगाता है उसे उसका वह अनदेखा तल भी मिलता है, ऐसा तल जहां जवाहरात भरे पड़े है। इसी प्रकार प्रकृति के पीछे परमात्मा है जो प्रकृति से तादात्म्य स्थापित कर, समुद्र के पानी की तरह उसमें स-राबोर हो, उसकी सत्ता को स्वीकार्य कर तथा उससे अपने को एकाकार कर उसके पार जाता है, उसे परमात्मा का, सत्य का साक्षात्कार हो जाता है।

सत्य की इस तलाश में, सत्य साक्षात्कार के इस अभियान में तथ्य को तथ्य की भांति ही देखना सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। क्योंकि उसमें ही सत्य का द्वार है। जो मन प्रकृति के तथ्यों को धारणाओं के माध्यम से देखता है वह तथ्य में भी प्रवेश नहीं कर पाता। सत्य का तो प्रश्न ही नहीं है। इसीलिए कहा कि चित् का शब्दों और शास्त्रों से निर्भार हो जाना अत्यन्त आवश्यक है। हम वही देखें जो है। उसकी उधार जानी हुई बातों से व्याख्या न करें। और न दूसरों के अनुभवों से उसके संबंध में निर्णय लें। स्वयं ही जानें और स्वयं के अनुभव को ही निर्णायक मानें। निश्चय ही यह मार्ग कठिन और लम्बा होगा, क्योंकि दूसरों के अनुभवों को मान लेने से अधिक सरल और क्या हो सकता है ? परन्तु स्मरण रहे कि दूसरों के अनुभव हमारा ज्ञान कभी नहीं बन सकते, न तो दूसरों के पैरों से चला जा सकता है और न ही दूसरों की आंखों से देखा जा सकता है। लेकिन जीवन में हम यही करते हैं और तब आश्चर्य ही क्या है कि बहुत से लोग जीवन को जानने से वंचित रह जाते है। यदि यह संभव हो सकता है कि दूसरों के अनुभव हमारा ज्ञान बन जायें तो सत्य सामाजिक उपलब्धि बन जाता है। कुछ लोग सत्य को साधना से पा लेते और फिर शेष सबको वह मुफ्त में ही मिल जाता। सत्य का साक्षात्कार सामुहिक रूप से नहीं हो सकता है, और न संभव हो सकेगा। सत्य स्वरूपतः स्वानुभव है, यह उचित भी है, यही उसका सौन्दर्य और इसमें ही उसकी उपलब्धि उतनी ही आनन्दपूर्ण हो जाती है। हमारा श्रम और तप ही उसमें आनन्द उत्पन्न करता है सत्य का आनन्द उसकी साधना में है।

यदि यह बोध स्पष्ट हो कि जो भी जीवन में मूल्यवान है, सत्य हो, शिव हो या सुन्दर हो उस सबको अपने ही पुरुषार्थ से पाना होता है तो शास्त्रों, गुरुओं और अन्यों पर निर्भर होने की वृत्ति ही विलीन हो जाय और यह वृत्ति विलीन होनी चाहिए। उसके कारण ही अनेक समर्थ लोग सत्य के अनुभव से वंचित रह जाते हैं, और उस वृत्ति के कारण ही सर्वाधिक सूक्ष्म और घातक शोषण चलता है। आजकल शोषण शब्द बहुत सुना जाता है, परन्तु यह आर्थिक क्षेत्र में। शोषण केवल आर्थिक ही नहीं होता अन्य क्षेत्रों में भी शोषण हो सकता है और इस शोषण का भयंकर क्षेत्र है बौद्धिक क्षेत्र। बौद्धिक स्तर पर किया जाने वाला शोषण सभी क्षेत्रों में प्रभावी होता है। जब कुछ लोग परावलम्बन खोजने लगते है तो निश्चय ही उस वृत्ति का शोषण कर लाभ उठाने वाले पैदा हो जाते हैं। धर्म के नाम पर हजारों वर्षों से हो रहा शोषण इसी परावलम्बन की अपेक्षा पर आधारित है। उससे ही धर्म, गुरुडम और दूकान-दारी में पतित हुआ है। फिर स्वाभाविक है कि शोषण की इन प्रतियोगी दुकानों में

संघर्ष हो और कलह हो, संप्रदाय बनें और वैमनस्य फैले, संगठन हो और परमात्मा के नाम पर मनुष्य की हत्या हो। हत्या केवल शारीरिक हत्या ही नहीं है, मानसिक हत्या भी है और मानसिक हत्या शारीरिक हत्या से कहीं अधिक बुरी है। मानसिक हत्या के क्षेत्र में उस हत्या को जो शुभ रूप देकर प्रोत्साहित किया जाता है और इस प्रोत्साहन का नाना प्रकार से प्रचार किया जाता है उससे यह हत्या है, यह बोध ही नहीं हो पाता, जो वस्तु निकृष्ट होते हुए उत्तम समझी जाने लगे इससे अधिक हानि निकृष्ट मानी जाने वाली वस्तु से भी संभव नहीं है। इस भांति धर्म, धर्म न रहकर अधर्म हो जाता है और इस बात के मूल में परावलम्बन की वृत्ति है। यह भाव ही कि सत्य कहीं से और किसी से पाया जा सकता है सारे उपद्रव की जड है। इस प्रकार यह परावलम्बन ही वह व्याधि है जो जीवन की जगह प्राणहानि का हेतु बन जाती है।

सत्य स्वयं में है, सबके निकट है। सबको उसे पाने का स्वरूप सिद्ध अधिकार है। जो भी जीवन के तथ्यों को निष्पक्ष और निर्दोष चित्त से देखेगा वह उसे पाने में समर्थ हो जावेगा। शास्त्र को छोड़ दें यदि सत्य को पाना है। संप्रदाय को छोड़ दें यदि धर्म को पाना है, दूसरों का अनुगमन छोड़ दें यदि स्वयं को पाना है, परमात्मा को पाना हो तो परमात्मा के संबंध में जो भी सीखा है उसे छोड़ देना आवश्यक है। स्वतंत्र चित्त ही सत्य उपलब्धि का अधिकार होता है।

नैतिक क्रान्ति के मूल आधार

स्वतंत्रता के पश्चात् देश के नैतिक स्तर का अधःपतन हो गया। घूसखोरी, भ्रष्टाचार और सामाजिक पाप बढ़ रहे हैं। यह बात कुछ दूर तक सत्य है। परन्तु पराधीनता के समय क्या हम नैतिक थे? उस समय इस समय की अपेक्षा हम अधिक नैतिक जान पड़ते थे और इसका कारण यह था कि स्वतंत्र होने के पश्चात जिस प्रकार और जितनी दूर तक हमें अनैतिक होने की भी स्वतंत्रता मिल गयी, उतनी पराधीनता के समय नहीं थी। यथार्थ में नैतिक दृष्टि से हम उस समय भी किसी ऊंचे स्तर पर नहीं थे। पराधीनता देश में गरीबी लायी और गरीबी के साथ ही असम्मान। स्वाधीनता प्राप्त होते ही सम्पन्नता बढ़ाने का प्रयत्न किया गया और पराधीनता के कारण जो असम्मान था वह दूर हुआ राजनीतिक पदों की प्राप्ति से। अतः दोनों दिशाओं में अर्थात् धन की और पदों की प्राप्ति के लिए दौड आरम्भ हुई। इस दौड में साधनों का भान लेश मात्र नहीं रखा गया और जिन साधनों से भी धन और पद प्राप्त हो सकते थे, उन सबका उपयोग आरम्भ हुआ। इस प्रकार पराधीन भारत की

अपेक्षा स्वाधीन भारत में अधिक अनैतिकता दृष्टिगोचर होती है, न पराधीनता के युग में हम नैतिक थे और न आज नैतिक है।

नीति की जडे उखड गयी है। इसका प्रधान कारण है कि धर्म अप्रतिष्ठित हो गया है। धर्म को उस रूप में ले रहे हैं, जिससे हमारी भीतरी भावनाओं का संबंध है। जिन भावनाओं के अनुसार यथार्थ में हमारा समग्र जीवन चलता है। ऐसा धर्म आन्तरिक परिष्कार का विज्ञान है। धर्म से मूलतःसृष्टि और उसके सृष्टा के ऊहापोह का कोई संम्बन्ध नहीं है। इस सम्बन्ध की सारी चिन्तनायें तत्व मीमांसा से सम्बन्ध रखती है। जिस रूप में हम "धर्म" शब्द का उपयोग कर रहे है, वह न तो "रिलीजन" है, न "मजहब" न कोरी चिंतना (Speculation) वह है प्रायोगिक विज्ञान और कला। उसके लिए विचारणीय बाह्य सृष्टि नहीं है। "रिलीजन" और "मजहब" के बाह्य आडम्बर नहीं है। उसके सम्बन्ध है मनुष्य और मनुष्य की अन्तर्निहित सम्भावनायें। मनुष्य जैसा है, उसे वैसा ही यह धर्म स्वीकार नहीं करता। इस अस्वीकृति से ही नैतिक विकास फलित होता है। ऐसा धर्म न हो तो मनुष्य की यह अस्वीकृति, अपने ही प्रति एक विशिष्ट प्रकार का असंतोष पैदा नहीं होता, तब वह जैसा है, वैसा ही स्वयं को अंगीकार कर लेता है। न केवल अंगीकार ही कर लेता है वरन् अपने प्रकट रूप को ही श्रेष्ठ-तम सिद्ध करने में लग जाता है। इससे अनीति ही उत्पन्न नहीं होती वरन् उसका समर्थन भी पैदा होता जाता है। और जब स्वयं से कोई असंतोष नहीं रहता तो सच्चे विकास और परिष्कार के सारे मार्ग बन्द हो जाते है।

नैतिक पतन के मूल में क्या बाह्य वस्तुओं की अप्राप्ति कारण है? अमरीका के निवासियों को यह आधिभौतिक सामग्री जितनी प्राप्त है, संसार के किसी स्थान में नहीं और इतने पर भी वहां का जीवन कितना नैतिक है?

और जो यह कहा जाता है कि कानूनों की सख्ती इस नैतिक पतन को रोकने में समर्थ होगी, वह दलील भी एकदम पोची है, क्योंकि सहस्रों वर्षों के दंडों ने क्या किया है?

नैतिक विकास तो तब सम्भव होता है जब स्वयं से संतोष हो और बाह्य वस्तुओं की प्राप्ति में अनास्था। यह आश्चर्य की बात जान पडेगी कि जो स्वयं से असंतुष्ट होते है, वे सहज ही संसार से तुष्ट हो जाते है। ये दोनो संतोष एक साथ कभी नहीं पाये जाते। आत्म असंतोष ही बाह्य असंतोष का कारण है। यह अनीति का मूल है, क्योंकि तब तृष्णा महत्वाकांक्षा और उसकी तृप्ति के लिए कैसे भी साधनों का उपयोग करने में मनुष्य को कोई हिचक नहीं होती। बाह्य

वस्तुओं के अतिरिक्त जब कुछ भी भोग को नहीं है और स्वयं की सत्ता में जब न किसी सम्बन्ध एवं परिष्कार की सम्भावना है तो, न तो बुरा करने से कोई पतित होता और न भला करने से परिष्कृत। मूल्य केवल बाह्य वस्तुओं का यह रह जाता है, अन्तस्सत्ता का नहीं।

मनुष्य का बडा होना या छोटा होना स्वयं उसके परिग्रह पर निर्भर होता है। वह स्वयं नहीं वरन् उसकी उपलब्धियां ही मूल्यवान होती है। एक समय तथागत बुद्ध किसी नगर के अतिथि बने। उस नगर के राजा ने सोचा कि वह उनके स्वागत के लिए जावें या नहीं। एक भिखारी के स्वागत के लिए क्या राजा का जाना उचित होगा? उस राजा ने अपने मंत्री से राय ली। उसके मंत्री ने कहा– जो राजा से भिखारी हुआ, उसका राजा से अधिक मूल्य है। राजा होना सरल है क्योंकि वह तो केवल बाहर के संग्रह मात्र से सम्भव हो जाता है। किन्तु अपने हाथों भिखारी होना एक आन्तरिक क्रान्ति है। वह परिग्रह नहीं, परिवर्तन है। बाहर की सम्पत्ति छोडने में तभी कोई समर्थ होता है, जब भीतर की सम्पदा पर उसकी दृष्टि पडती है। चेतना भीतर जितनी समृद्ध होती है, बाहर समृद्धि की चेतना उतनी ही शून्य हो जाती है। वस्तुतः बाहर की समृद्धि की खोज आन्तरिक दरिद्रता के छिपाने और भुलाने से अधिक नहीं है। ईसा ने जो यह कहा है कि सुई के छिद्र से चाहे ऊंट निकल जाय लेकिन सम्पत्तिशाली स्वर्ग के राज्य में प्रवेश नहीं पा सकेगा, उसका यही प्रयोजन है। ईसा का यह वचन यथार्थ में सम्पत्ति के विरोध में नहीं, आन्तरिक दरिद्रता के सम्बन्ध में है। महावीर और बुद्ध का भिखारी हो जाना जो ऐसा सोचते है कि प्रयत्न जन्य है, वे भूल मे है। वस्तुतः जिसकी आन्तरिक दरिद्रता मिटने लगती है, उसकी बाहर की सम्पत्ति पर पकड वैसे ही छूट जाती है, जैसे कोई भीतर से स्वस्थ होने लगे तो बाहर की बीमारी विलीन हो जाय।

मनुष्य की आन्तरिक तृष्णा का अनियंत्रित होना और तृष्णा की दिशा से भिन्न उसके भीतर किसी और दिशा का अभाव ही अधर्म है। तृष्णा अकेली रह जाय तो जीवन का अनैतिक होना स्वाभाविक है। तृष्णा की कोई सीमा नहीं है। भौतिक दृष्टि से अत्यन्त सम्पन्न अमरीका कितना अनैतिक है, यह इसका प्रमाण है। नीति का द्वार खोलना हो तो आधिभौतिक तृष्णा के ऊपर आध्यात्मिक असंतोष आवश्यक है। उसके लिए ऐन्द्रिक वासनाओं के ऊपर कोई दूसरी आत्मिक ऐषणा चाहिए। जो महत्वाकांक्षायें क्षुद्र पर समाप्त हो जाती हैं, वे यथार्थ महत्वाकाक्षांयें है ही नहीं। विराट की महत्वाकांक्षा को जन्म

देना होगा। सरिता जैसे सतत सागर के ध्यान में बहती है, वैसे ही जब कोई चेतना अहर्निश आनन्द और आलोक के लिए ऊपर उठने का भाव रखती है, तभी जीवन में नीति का आगमन होता है। नीति धर्म आरोहण के लिए आबद्ध संकल्प की उप-उत्पत्ति है।

एकान्त : आनन्द की आधार-भूमि

जीवन में जो भी श्रेष्ठ है उसका जन्म सदा एकान्त में होता है। भीड़ में न तो सत्य की अनुभूति होती है, न सौंदर्य की। जो व्यक्ति चौबीसों घंटे भीड़ से घिरे रहते हैं, उनकी अनुभूतियों में क्षुद्र के अतिरिक्त विराट का कोई संस्पर्श नहीं हो पाता। विराट का बोध अत्यन्त अकेलेपन में ही जन्म पाता है। मानव को स्वयं साक्षात् के हेतु अकेला रहना आवश्यक है। जब हम दूसरों से नहीं घिरे रहते, तब हम स्वयं के आमने-सामने आ जाते है। निरंतर भीड़ से घिरे रहने से हम भूल ही जाते हैं कि हमारा भी कोई अस्तित्व है। हम स्वयं को भूल जाते है और यह आत्म-विस्मरण ही जीवन की सबसे भारी भूल है।

हमारे युग ने इस भूल की जड़ों को बहुत गहरा कर दिया है और बहुत से ऐसे साधन जुटा दिए हैं, जिनमें उलझ कर हम स्वयं का विस्मरण किये रहते हैं। रेडियो, फिल्म, टेलीविजन, अखबार और साहित्य, इन सबने हमारे मन को इतना भर दिया है कि उसे स्वयं की स्मृति के लिए कोई अवकाश ही नहीं रहा। सोकर उठने से सोने तक हम इस भांति किसी-न-किसी वासना के पीछे भाग रहे है कि स्वयं की सत्ता के प्रति जागने का न हमें समय है, न अवसर। आज का मनुष्य इस प्रकार स्वयं से ही विच्छिन्न हो गया है। वह सदा अपने बाहर रहता है, अपने भीतर कभी नहीं। इसके घातक परिणाम हुए हैं। सबसे बड़ा यह कि आज के मनुष्य की आंखे अपने से ऊपर देखने में असमर्थ हो गई है। निश्चय ही मनुष्य के पैर तो जमीन पर हैं, किन्तु उसकी आंखें आकाश की ओर होनी चाहिए, तभी उसमें विकास के अंकुर फूटते हैं। जो अपने से ऊपर देखना बन्द कर देता है, उसका ऊपर उठना ही बन्द हो जाता है। एक कथा है कि सुकरात से किसी पूर्वीय दार्शनिक का मिलन हुआ। उसने सुकरात से पूछा आप किस सम्बन्ध में चिन्तन करते हैं। सुकरात ने कहा—मनुष्य के। वह पूर्वीय तत्ववेत्ता इसे सुनकर बहुत हंसने लगा और बोला— जो ईश्वर के सम्बन्ध में नहीं जानता, वह मनुष्य के सम्बन्ध में क्या जान सकेगा? बीज को केवल वही जानते हैं, जो वृक्ष को जान लेते हैं।

इसके लिए कि मनुष्य की आंखे भूमि से उठ सके, इसके लिए कि मनुष्य स्वयं में शरीर के अतीत देख सके, इसके लिए कि वह पार्थिव में अपार्थिव का अनुसंधान कर सके, इसके लिए कि मृण्मय में उसे चिन्मय के दर्शन हो सकें, एकान्त अवसर है, एकान्त साधन है। इसके लिए केवल बाहरी भीड से दूर होना ही यथेष्ट नहीं, बल्कि भीतर से भी भीड़ का दूर हो जाना आवश्यक है। स्वयं को भीड़ से दूर ले जाओ और भीड़ को चित्त से दूर कर दो। इतने अकेले हो जाओ कि तुम्हारे अतिरिक्त बाहर भी और विचार में भी कोई न हो।

सर्व विस्मृति की उस घड़ी में क्षुद्र से छुटकारा हो जाता है और विराट से सम्मिलन। उस समय व्यक्ति स्वयं को जानता है और जो स्वयं के ऊपर है उसे भी, इस अवस्था को ही ध्यान कहा गया है।

मनुष्य के वास्तविक पुनरुत्थान के लिए उसे एकान्त की शिक्षा और साधना देनी होगी। प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिदिन या यदि प्रतिदिन न हो सके तो सप्ताह में, पक्ष में, या मास में कुछ समय तो ऐसा अवश्य ही निकालना चाहिए जब कि दुनियां उसके लिए मर गयी हो, और वह दुनियां के लिए मर गया हो। मृत्यु के इस प्रकार के प्रयोग से भीतर प्रसुप्त बहुत सी शक्तियां जाग्रत होती है और तन-प्राण में आलौकिक ऊर्जा का संचरण अनुभव होता है।

बहुत से सोये केन्द्र सजग और सक्रिय हो जाते हैं। योग की पारिभाषिक शब्दावली में इसे कुण्डलिनी का जागरण कहा गया है। जैसे पानी के प्रत्येक कण में, विद्युत सोयी हुई है और पदार्थ के प्रत्येक अणु में विराट् शक्ति अन्तर्निहित है, वैसे ही मनुष्य के अणु-अणु में भी परमात्मा सोया हुआ है। प्रत्येक क्षुद्रतम व्यक्ति भी अनन्त शक्ति और अनन्त वीर्य को अपने में लिए है। ऊर्जा के उस स्रोत को क्रियमाण करने के लिए, व्यक्ति जो करता है, उसी का नाम योग है। समस्त योग की आधार-शिला पूर्ण एकान्त की अनुभूति में रखी जाती है। सबमें बसो, किन्तु स्वयं अपने में रहो।

इमर्सन ने एक स्थान पर कहा है—"संसार की भीड़ में भीड़ के मत से जीना अत्यन्त आसान है और अरण्य के एकान्त में आत्मकेन्द्रित होना भी। किन्तु, पूर्ण विकसित मनुष्य वह है, जो भीड़ के मध्य एकान्त की स्वतंत्रता को उसके पूरे माधुर्य के साथ सुरक्षित रखता है।"

एकान्त में जाने का मूल्य या अभिप्राय एकान्त में ही अटके रह जाना नहीं है, अपितु जो एकान्त में जाना गया हो, उस सबके बीच में भी अनुभव करना है। एकान्त के अनुभव के पश्चात् सच्ची परीक्षा तो भीड में ही होती है। कसौटी वही है। यदि वस्तुतः भीतर एकान्त का अनुभव हुआ हो तो संसार को

सारी भीड़ भी उस अनुभव को नष्ट नहीं कर सकती। जिसने तनहाई में स्वयं की सत्ता के आनन्द को और सौंदर्य को जाना है वह किसी भी परिस्थिति में और किसी भी स्थान पर उसे विस्मरण नहीं कर पाता, इस सत्य का संगीत तो उसमें सतत ही निनादित होता रहता है। उसकी अनुभूति फिर श्वास-प्रश्वास की भांति हो जाती है। उस आनन्द की निरंतर उपस्थिति के कारण ही, उसे किन्हीं अन्य सुखों की आकांक्षा नहीं रह जाती। जल में रहते हुए भी कमल-पत्र जिस प्रकार उससे विलग रहता है, उसी प्रकार समष्टि में रहते हुए भी उस व्यष्टि की स्थिति रहती है। उस सच्चे आनन्द को जान लेना ही संसार से सच्ची अनासिक्त है। अनासक्ति दुख से भागकर नहीं, वरन् आनंद में प्रतिष्ठित होने से ही उपलब्ध होती है।

तत्व चिन्तन और तत्व दर्शनः

मानव जीवन अत्यन्त अंधकाराच्छन्न है। न तो हमें उसके आरंभ का पता है और न अन्त का। उसका अर्थ और अभिप्राय भी हमें अज्ञात है। इस रहस्य को खोलने का मनुष्य ने हजारों वर्षों से यत्न किया है। यह यत्न भी कितने लम्बे काल से हुआ है, इसका भी ठीक पता नहीं है। लेकिन परिणाम में कुछ हाथ नहीं आया है। विचार की दिशा कहीं भी नहीं ले गई है। संभवतः विचार की गति चक्रीय है और इसलिये घूमना तो खूब होता है, लेकिन पहुंचना नहीं। इसीलिये जीवन और सृष्टि के रहस्य को समझने की समस्या जहां की तहाँ है। एक विचार प्रणाली यदि किन्हीं समस्याओं का एक समाधान निकालती है तो दूसरी विचार सरणी उससे ठीक विपरीत। विचारकों का एक संप्रदाय खडे होने की जिस भूमि को अत्यंत सुदृढ मानता है, दूसरा संप्रदाय वहां कोई भूमि ही नहीं देख पाता। जो किसी संप्रदाय में अपने को आबद्ध नहीं पाते और जो निष्पक्ष हैं, उन्हें ये सब विचार, प्रकाश के संबंध में अंधों की अटकलबाजी प्रतीत होते हैं। किसी ने व्यंग में कहा है कि विचारकों का प्रयत्न उस अंधे आदमी की भांति है, जो अंधेरे कक्ष में उस काली बिल्ली को खोजता है जो वहां है ही नहीं। यह व्यंग सत्य के बहुत समीप जान पडता है। बरट्रेन्ड रसल ने कहीं कहा है कि तत्व चिन्तन की पुरानी परिभाषा जीवन के समाधान की खोज थी। किन्तु तत्व चिन्तन के अतीत को देखकर यह कहना उचित होगा कि वह समाधान की नहीं, यथार्थ में समस्याओं की ही खोज है। समाधान तो उसे मिला ही नहीं, वरन् नई नई समस्यायें और उलझन उत्पन्न होती गईं। विचार की यह खोज खाज को खुजलाने जैसी सिद्ध हुई है।

जीवन का समाधान विचार में है ही नहीं। वह है निर्विचार में। विचार की ऊहापोह छोड जो निर्विचार की निस्तरंग दशा को साधता है उसे ही केवल जीवन सत्य का अनुभव होता है। विचार से जहां नहीं पहुंचते हैं, वहां विचार को त्यागकर पहुंचने का मार्ग भी है। इसी चेष्टा का नाम ध्यान है, जो आगे चलकर समाधि में परिणत हो जाता है। ध्यान में दर्शन उपलब्ध होता है। चित्त जब शांत होता है, तभी वह देख पाता है। विचार अशांति उत्पन्न करते हैं और स्वाभाविक है कि अशांति से समाधान न मिले। अशांति तो समस्या और उलझन को ही जन्म देगी। उससे हल खोजना वैसा ही है, जैसे कोई सूर्य की ओर पीठ करके चले और सूर्य तक पहुंचना चाहे। जिन्हें जीवन सत्य को जानने की अभिलाषा हो, उनके लिये मार्ग विचार नहीं, ध्यान है। विचार से तत्व चिन्तन का जन्म हुआ है और ध्यान से धर्म का। विचार धारायें अनेक हैं और धर्म एक। ये विचार धारायें एक दूसरे की विरोधी है और धर्म निर्विरोधी। विचार सरणी उलझाती है और धर्म सुलझाता है। विचार धारायें मात्र चलतीं है और धर्म पहुंचाता है।

मनुष्य की आज की दशा अत्यंत उलझ गई है। इसका प्रधान कारण यह है कि वह विचारों में पडा है और ध्यान को भूल गया है। तत्वचिन्तन तो हो रहा है, तत्वदर्शन नहीं। तत्व चिन्तन की अनेक धारणाओं ने उसके चित्त को विभ्रमित कर दिया है और उसे समाधान का कोई मार्ग दिखाई नहीं पड रहा है, और न कोई दिशा अनुभव में आ रही है। वह क्यों है? कहां से है? कहां के लिये है? उसे कुछ भी नहीं सूझ रहा है।

मानव किंकर्त्तव्यविमूढ सा बहा जा रहा है। किसलिये और क्यों? इसका कोई उत्तर उसके पास नहीं है। सच्चे धर्म के और उसकी सच्ची साधना के पुनरुत्थान से ही विचारों की अशांति की जगह ध्यान की शांति स्थापित हो सकती है, उसी शांति से दिशा और दृष्टि मिलेगी। जब वह दृष्टि मिलेगी, तभी जीवन का अर्थ और अभिप्राय जाना जा सकता है। जो व्यक्ति स्वयं की सत्ता के निगूढतम रहस्य का अनुभव कर लेता है, उसके दुख, मृत्यु, अंधकार आदि सब विलीन हो जाते हैं। स्वयं को जानकर वह आलोक और आनन्द में प्रतिष्ठित हो जाता है। ऐसी प्रतिष्ठा पा लेना ही जीवन का अंतिम लक्ष्य है, वही है जीवन का परम समाधान। जो उसे बिना पाये जीते हैं उनका जीवन सन्तापों से भरा एक दुख स्वप्न मात्र है। अतः हमें तत्व चिन्तन छोडकर अब तत्व दर्शन की ओर मुडना है।

सभ्यता का केन्द्र और क्रान्ति

यह माना जा रहा है और इस मान्यता का प्रचार किया जा रहा है कि दिनों दिन मनुष्य प्रगति और उन्नति कर रहा है। जहां तक भौतिक वस्तुओं का संबंध है इसमें संदेह नहीं कि पिछली दो शताब्दियों में मनुष्य ने अत्यधिक विकास किया है। वाष्प शक्ति और उस शक्ति के प्रयोग करने वाली कलों के अनुसंधान एवं निर्माण के पूर्व की स्थिति और उपज की स्थिति का मिलान किया जाय तो उस काल तथा इस काल की भौतिक अवस्था के अन्तर का ज्ञान हो जाय। इस मशीन-युग में क्या-क्या हुआ है? मनुष्य को हर प्रकार की सुविधायें प्राप्त करने का इस बीच जितना प्रयत्न हुआ उतना इसके पूर्व कभी नहीं हुआ था। यातायात के शीघ्रगाभी साधनों के कारण मनुष्य के कार्यों में समय की बडी भारी बचत हुई है। और अब स्थान की दूरी को वह इस सीमा तक तय कर लेना चाहता है कि हम अन्य लोंकों में पहुंच सकें। इसीलिए यह प्रचार किया जा यहा है कि मनुष्य का विकास हो रहा है। विकासवाद की पिछले दिनों बहुत प्रतिष्ठा हुई है। परन्तु दूसरी ओर इस सारे विकास के नाश करने के साधन भी बढ़ते जा रहे हैं। ये साधन अणुबम और उद्जन बम तक पहुंच चुके है। और यदि इन साधनों की प्रगति की यही गति रही तो ऐसे बम का निर्माण भी हो सकता है जिससे हमारे इस भू-मंडल के टुकड़े-टुकड़े हो जांय और यह समस्त भौतिक सभ्यता, इसके निर्माता मनुष्य के सहित नष्ट-भृष्ट हो जाय।

एक ओर आधिभौतिक समृद्धि की प्रचुरता और इसी के साथ दूसरी ओर इसके सम्पूर्ण नाश की योजना मानव-इतिहास की एक अद्भुत घटना है। इसका कारण है, मनुष्य की शक्ति ही बढ़ी है। सम्पदा और सुविधा में विकास हुआ है। किन्तु इस बाह्य प्रगति और उन्नति के साथ आन्तरिक दृष्टि से मनुष्य में कोई विकास नहीं हुआ। उसकी आन्तरिक अवस्था उन्नत होने के स्थान पर पतित ही हुई है। शक्ति तो सर्वत्र दिखती है, पर शान्ति कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती। जीवन का वास्तविक आनन्द और अर्थ भी क्षीण हुआ है। आचार और शील का सौंदर्य भी घटा है। मनुष्य की आत्मा को हम नित्य कुरूप से कुरूप होते देख रहे हैं। हमारे पहले जो मानव थे, वे भौतिक दृष्टि से चाहे इस प्रकार समृद्ध न रहे हों, और वे इस प्रकार समृद्ध नहीं थे, यह मानना ही होगा, तथापि उनमें आज के मानव से अधिक शान्ति की भावनायें थीं। उसके कारण उनके हृदयों में आनन्द का एक स्रोत वहता था। इसी वजह से उनके आचार और शील में

सौंदर्य था। भौतिक दृष्टि से हमसे पीछे रहने पर भी मानवता की दृष्टि से वे हमसे अधिक विकसित थे और यदि हमारी दृष्टि केवल भौतिकता की ओर ही रही तो भविष्य में हमारा क्या होने वाला है इस संबंध में आज कोई निश्चित भविष्यवाणी करना कठिन है। हमारा सर्वनाश हो जाय यह भी असंभव नहीं है।

हम भौतिक उन्नति के विरोधी नहीं है। आधिभौतिक शरीर के रहते हुए, हमारे लिए भौतिक सुविधायें भी आवश्यक हैं। गरीबी के कारण जो कष्ट हमारे देश की जनता को हुआ है और हो रहा है, उसका निवारण हम अत्यावश्यक मानते है। परन्तु यहां प्रश्न यह है कि हर बात में जो केन्द्र और परिधि होती है, वह केन्द्र क्या होना चाहिए और परिधि क्या ? आज केन्द्र अधिभूत हो गया है। उसके इस प्रकार आधिभौतिक होने के कारण ही अभूतपूर्व भौतिक विकास होने पर भी मनुष्य शान्ति, आनन्द आदि मानवता के सच्चे आदर्शों से च्युत होकर इस प्रकार की झंझावात में हैं, जैसे इसके पूर्व कभी नहीं था, और सारी सुविधाओं के रहते हुए भी भावी नाश के भय से कांप रहा है। मानव को मानव रखने के लिए केन्द्र अध्यात्म होना चाहिए। परिधि अधिभूत की रह सकती है। आज बाहर सब कुछ रहते हुए भी भीतर हमारे पास कुछ भी नहीं है। यह स्थिति ऐसी ही है कि मनुष्य सारी दुनियां को पाले, और स्वयं को खो दे। ऐसी स्थिति में शारीरिक समृद्धि के मध्य आत्मिक दरिद्रता उत्पन्न हो जाती है।

एक सन्यासी ने एक बार कहा था कि मेरे पास कुछ रुपये हैं और वे मैं किसी दरिद्रतम व्यक्ति को देना चाहता हूं। उसके पास बहुत से गरीब लोग एकत्रित हो गये और उन लोगों ने उन रुपयों को पाने की याचना की। वह सन्यासी बोला— कुछ देर रुको, मेरी दृष्टि से सर्वाधिक दरिद्र व्यक्ति के आने पर मैं ये रुपये उसे दूंगा। इसी बीच राज पथ पर देश के राजा की सवारी निकली। जब ये याचक सवारी देख रहे थे, तब उस सन्यासी ने अपने रुपये लाकर हाथी पर बैठे हुए राजा के पास फैंक दिए। राजा ने चकित होकर उसका कारण पूछा, और उन दरिद्र याचकों ने हैरान होकर कहा कि आप तो कहते थे कि अपने रुपये आप दरिद्रतम व्यक्ति को देंगे। वह सन्यासी हंसने लगा और बोला। "मैंने देश के सर्वाधिक दरिद्र व्यक्ति को ही अपने रूपये दिये हैं"। यह कथा चाहे सत्य न हो, पर यह हमारे भीतर अन्तर्दृष्टि के द्वार खोल सकती है। एक सम्पत्ति बाहर है और एक सम्पत्ति भीतर भी है। भीतर जो सम्पत्ति है,

उसके न होने पर जो बाहर सम्पत्ति है वह अन्ततः विपत्ति ही सिद्ध होती है। क्योंकि उससे शान्ति के लिए कोई मार्ग नहीं मिलता। भीतरी सम्पदा के बिना वह बाह्य सम्पदा न तो सच्चा आलोक दे सकती है और न आनंद। जो उसमें उलझ जाता है, वह अशान्ति की आंधियों में ही अपने जीवन-दीप को बुझा देता है। इस दृष्टि से केवल समय के आधार पर हम अपने को चाहे कितना ही विकासशील क्यों न कहें, पर समय बीतने पर हमारा यह कथन अज्ञान ही सिद्ध होगा। विकास समय के तल पर नहीं, बरन् चेतना (Conciousness) के तल पर होता है। काल में केवल परिवर्तन है। सच्चा उन्नयन आंतरिक चेतना में ही संभव है। बाह्य समृद्धि की तलाश समय में होती है और आत्म समृद्धि की खोज चेतना का उर्ध्वगमन में। समृद्धि पीछे से आगे की ओर बढ़ती है और चेतना नीचे से ऊपर की ओर। ये दोनों बडे विभिन्न आयाम है।

मनुष्य की भौतिक समृद्धि बढ़ती है तो उसकी अभिव्यक्ति उसके शक्ति सम्पन्न होने में होती है, और उसकी आध्यात्मिक सत्ता बढ़ती है तो उसकी अभिव्यक्ति शान्ति में होती है। मनुष्य कितना शान्त होता है, उससे ही उसके आत्म विकास का सच्चा परिदर्शन होता है। छुद्रतम कारण, जिसकी शान्ति को खण्डित कर दे, वह मनुष्य छुद्रतम है। जिसकी शान्ति किसी भी स्थिति में विक्षुब्ध न की जा सके, वही मनुष्य मनुष्यता के पूर्ण विकास को उपलब्ध हुआ कहा जा सकता है। उसकी ही विजय वास्तविक है और उसकी ही शक्ति ऐसी है, जिसे उससे छीना नहीं जा सकता। एक शक्ति भौतिक साधनों से आती है, वह छीनी जा सकती है और एक शक्ति का आविर्भाव स्वयं में होता है। जिसे छीनना न संभव है और न नष्ट करना। उसमें रहकर ही असहाय दशा का अन्त होता है। इस अनुभूति को ही हम चाहें तो ईश्वर की अनुभूति कह सकते हैं। बाहर खोजने से ऐश्वर्य और भीतर खोजने से ईश्वर मिलता है। और जगत में दो ही तरह की उपासनायें है —— ऐश्वर्य की और ईश्वर की। ऐश्वर्य का विकास वास्तविक विकास नहीं है। क्योंकि उसमें आप के पास तो सब कुछ होता है लेकिन आप कुछ नहीं होते। ऐसे दरिद्र अपने को समृद्ध होने का धोखा दे लेते है। और "न कुछ" "सब कुछ" होने के भ्रम में पड जाते हैं। महान सिकन्दर की कब्र पर लिखा है कि जीते जी जिसकी तृप्ति के लिए सारी दुनियां छोटी थी, मर कर उसके लिए यह कब्र काफी हो गयी। सच्चा विकास ऐश्वर्य में नहीं, ईश्वर में है। ऐश्वर्य के विकास में व्यक्ति सब होना पाना चाहता है। लेकिन अंततः उसे मालूम होता है कि वह न कुछ था और न कुछ है। ईश्वर

के विकास की दिशा ऐश्वर्य के विकास की दिशा से भिन्न है। उसमें व्यक्ति न सब कुछ पाना चाहता और न सब कुछ होना। जिस दिन वह "न कुछ" होने में समर्थ हो जाता है उसी दिन पाता है कि वह "सब कुछ" हो गया। जो पूर्ण को मूल्य देते हैं वे शून्य हो जाते हैं, और जो शून्य को पा लेते हैं वे पूर्ण हो जाते हैं। ऐश्वर्य पाने की दौड़ से अशान्ति बढ़ती चली जाती है। क्योंकि भौतिक समृद्धि तो बढ़ती है, किन्तु आत्मिक दरिद्रता मिटती नहीं। इससे तनाव पैदा होता है; वही तनाव या अशांति है। ईश्वर की खोज में चाहे दरिद्रता वरण की जाय, परन्तु उससे ही सच्ची समृद्धि उत्पन्न होती है। इस सामन्जस्य का संयोग ही शान्ति है। जब से हमने इस सूत्र को विस्मरण किया है, हमारी समग्र सभ्यता अशान्ति के केन्द्र पर निर्मित हो रही है। इस सत्य का पुनर्स्मरण ही हमें पुनः शान्ति की दिशा में अग्रसर और प्रतिष्ठित कर सकेगा। इस अशान्ति के अत्यधिक दबाव में मनुष्य की दृष्टि में इस ओर उठ रही है। हम एक बहुत बड़े संक्रमण से गुजर रहे।

अशान्ति इतनी तीव्र हो गयी है और सर्वनाश का भय इतना उत्कट कि या तो मानव इन उत्तापों में विघटित होकर सर्वनाश को प्राप्त होगा या फिर सभ्यता एक नये केन्द्र पर निर्मित होगी। यह केन्द्र होना अध्यात्म और परिधि होगी अधिभूत। आशा तो यही है कि मनुष्य मरने को राजी नहीं होगा और उसके स्वयं के हाथों से पैदा की हुई, इस परिस्थिति का दबाव उसे सभ्यता को ही आमूल परिवर्तित करने के लिए कटिबद्ध कर देगा। ऐश्वर्य की जगह ईश्वर केन्द्र बने तो यह क्रान्ति घटित हो सकती है।

सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्

(प्रवचनों से संकलित बोध कथायें)

संकलनः श्री रमा

१. आनन्द कहां है ?

आप पूछते हैं : आनन्द कहां है ?

मैं एक कथा कहता हूं, उस कथा में ही आपका उत्तर है ।

एक दिन संसार के लोग सोकर उठे ही थे कि उन्हें एक अद्भुत घोषणा सुनाई पडी । ऐसी घोषणा इसके पूर्व कभी भी नहीं सुनी गई थी । किन्तु वह अभूतपूर्व घोषणा कहां से आ रही थी, यह समझ में नहीं आता था । उसके शब्द जरूर सुस्पष्ट थे । शायद वे आकाश से आ रहे थे, या यह भी हो सकता है कि अंतस् से ही आ रहे हों । उनके आविर्भाव का स्रोत मनुष्य के समक्ष नहीं था ।

"संसार के लोगो ! परमात्माकी ओर से सुखों की निर्मूल्य भेंट । दुखों से मुक्त होने का अचूक अवसर । आज अर्धरात्रि में, जो भी अपने दुखों से मुक्त होना चाहता है, वह उन्हें कल्पना की गठरी में बांधकर गांव के बाहर फेंक आवे, और लौटते समय वह जिन सुखों की कामना करता हो, उन्हें उसी गठरी में बांधकर सूर्योदय के पूर्व घर लौट आवे । उसके दुखों की जगह सुख आ जावेंगे । जो इस अवसर से चुकेगा, वह सदा के लिए ही चूक जावेगा । यह एक रात्रि के लिए पृथ्वी पर कल्पवृक्ष का अवतरण है । विश्वास करो और फल लो । विश्वास फलदायी है ।"

सूर्यास्त तक, उस दिन यह घोषणा बार बार दुहरती रही। जैसे जैसे रात्रि करीब आने लगी, अविश्वासी भी विश्वासी होने लगे। कौन ऐसा मूढ़ था, जो इस अवसर से चूकता? फिर कौन ऐसा था जो दुःखी नहीं था और कौन ऐसा था जिसे सुखों की कामना न थी? सभी अपने दुखों की गठरियां बांधने में लग गये। बस सभी को एक ही चिन्ता थी कि कहीं कोई दुख बांधने से छूट न जावे। आधी रात होते होते संसार के सभी घर खाली हो गये थे, और असंख्य जन चींटियों की कतारों की भांति अपने अपने दुखों की गठरियां लिये ग्रामों के बाहर जा रहे थे। उन्होंने दूर दूर जाकर अपने दुख फेंके कि कहीं वे पुनः न लौट आवें, और आधीरात बीतने पर वे सब पागलों की भांति जल्दी जल्दी सुखों को बांधने में लग गये। सभी जल्दी मे थे कि कहीं सुबह न हो जाय और कोई सुख उनकी गठरी में अनबंधा न रह जाय। सुख तो हैं असंख्य और समय था कितना अल्प? फिर भी किसी तरह सभी संभव सुखों को बांधकर लोग भागते भागते सूर्योदय के करीब अपने अपने घरों को लौटे। घर पहुंचकर जो देखा तो स्वयं की ही आंखों पर विश्वास नहीं आता था। झोपडों की जगह गगनचुंम्बी महल खड़े थे। सब कुछ स्वर्णिम हो गया था। सुखों की वर्षा हो रही थी। जिसने जो चाहा था, वही उसे मिल गया था। यह तो आश्चर्य था ही, लेकिन एक और महाश्चर्य था। यह सब पाकर भी लोगों के चेहरों पर कोई आनन्द नहीं था। पड़ौसियों का सुख सभी को दुःख दे रहा था। और पुराने दुख चले गये थे लेकिन उनकी जगह बिल्कुल ही अभिनव दुख और चिन्तायें साथ में आ गई थीं। दुख बदले गये थे लेकिन चित्त अब भी वही थे और इसीलिए दुखी थे। संसार नया हो गया था लेकिन व्यक्ति तो वही थे, और इसीलिए वस्तुतः सब कुछ वही था। एक व्यक्ति जरूर ऐसा था जिसने दुख छोडने और सुख पाने के आमंत्रण को नहीं माना था। वह एक नंगा वृद्ध फकीर था। उसके पास तो अभाव ही अभाव थे, और उसकी नासमझी पर दया खाकर सभी ने उसे भी चलने के बहुत समझाया था। जब सम्राट भी स्वयं जा रहे थे तो उस दरिद्र को तो जाना ही था। लेकिन उसने हंसते हुए कहा था: 'जो बाहर है वह आनन्द नहीं है। और जो भीतर है उसे खोजने कहां जाऊं? मैं तो सब खोज छोड़कर ही उसे पा लिया हैं।' लोग उसके पागलपन पर हंसे थे और दुखी भी हुए थे। उन्होने उसे वज्रमूर्ख ही समझा था। और जब उनके झोपडे महल हो गये थे और मणि – माणिक्य कंकड़ – पत्थरों की भांति उनके घरों के सामने पडे थे तब उन्होंने फिर उस फकीर को कहा था: 'क्या अब भी अपनी

भूल समझ में नहीं आई ?' लेकिन फकीर फिर हंसा था और बोला था : 'म भी यह प्रश्न आप सबसे पूछने को सोच रहा था !'

---

२. मैं पहाड़ों में था। कुछ मित्र साथ थे। एक दिन हम एक ऐसी घाटी में गये जहां पहाडियां बहुत स्पष्ट प्रतिध्वनि करती थीं। एक मित्र ने कुत्ते की आवाज की तो पहाड में कुत्ते बोलने लगे और फिर किसी ने कोयल की आवाज की तो घाटी कुहु कुहु से गूंजने लगी। मैंने कहा : "संसार भी ऐसा ही है। उसकी ओर हम जो फेंकते हैं, वही हमपर वापस लौट आता है। फल, फूल ले आते हैं और कांटे, कांटे। प्रेमपूर्ण हृदय के लिए सारा जगत् प्रेम की वर्षा करने लगता है और घृणा से भरे व्यक्ति के लिए सब ओर पीडादायी लपटें जलने लगती हैं।"

फिर मैंने उन मित्रों से एक कहानी कही : "एक छोटा लडका पहली-बार अपने गांव के पास के जंगल में गया था। एकांत से वह भयभीत और बहुत चौकन्ना था। तभी उसे झाडियों में कुछ सरसराहट सुनाई पडी। निश्चय ही कोई व्यक्ति छिपा हुआ उसका पीछा कर रहा था। उसने जोर से चिल्लाकर पूछा : 'कौन है ?' और भी जोर से पहाडियों ने पूछा : 'कौन है ?' अब तो किसी के छिपे होने का उसे पूर्ण निश्चय हो गया। भयभीत तो वह वैसे ही था। उसके हाथ पैर कांपने लगे और हृदय जोर-जोर से धडकने लगा। लेकिन स्वयं को साहस देने के लिए उसनेछिपे हुए आदमी से कहा : 'डरपोंक।' प्रतिध्वनि हुई : 'डरपोंक।' अंतिम बार उसने शक्ति जुटाई और चिल्लाया : 'मैं मार डालूंगा।' पहाड और जंगल भी जोर से चिल्लाये : 'मैं मार डालूंगा।' तब वह लडका पैरों को सिरपर रखकर गांव की ओर भागा। उसके ही पैरों की प्रतिध्वनि उसे ऐसी लगती थी कि जैसे वह आदमी उसका पीछा कर रहा है। और अब उसमें लौटकर देखने का भी साहस नहीं था। वह घर के द्वार पर जाकर गिर पडा, और बेहोश हो गया। होश में आनेपर सारी बात पता चली। सुनकर उसकी मां खूब हंसी और बोली : 'कल फिर वहीं जाना और जो मैं बताऊं वह उस रहस्यमय व्यक्ति से कहना। मैं तो उससे भली भांति परिचित हूं। वह तो बहुत ही भला और प्यारा आदमी हैं। वह लडका कल फिर वहां गया। उसने जाकर कहा : 'मेरे मित्र।' प्रतिध्वनि हुई : 'मेरे मित्र।' इस मत्रीपूर्ण ध्वनि ने उसे

आश्वस्त किया और उसने कहा : 'मैं तुम्हें प्रेम करता हूं।' पहाडों ने, जंगलों ने, सभी ने दुहाराया : 'मैं तुम्हें प्रेम करता हूं।'

क्या प्रतिध्वनि की कथा ही हमारे तथाकथित जीवन की कथा नहीं है ?

और क्या हम सब संसार के जंगल में ऐसे बाल – अजनबी ही नहीं हैं जो कि अपनी ही प्रतिध्वनियों को सुनते हैं और भयभीत होते हैं और भागते हैं ?

क्या सच ही स्थिति ऐसी ही नहीं है ?

लेकिन स्मरण रहे कि 'मैं मार डालूंगा।' यह प्रतिध्वनि है तो "मैं तुम्हें प्रेम करता हूं।' यह भी प्रतिध्वनि ही है। पहली प्रतिध्वनि से मुक्त होकर दूसरी के प्रेम में पड जाना बाल-पन से छुटकारा नहीं है। कुछ पहली प्रतिध्वनि से भयभीत होते हैं, कुछ दूसरी प्रतिध्वनि में मोहग्रस्त। लेकिन बुनियादी-रूप से उन दोनों में कोई भेद नहीं है। अप्रौढ़ता दोनों में ही छिपी है। जो जानता है, वह दोनों भ्रमों से मुक्त होकर जीता है। जीवन का सत्य प्रतिध्वनियों में नहीं, वरन् स्वयं में ही अंतर्निहित है।

---

३. मैं परमात्मा की प्रार्थना के लिए तुम्हें मंदिरों में जाते देखता हूं तो सोचता हूं कि क्या परमात्मा केवल मंदिरों में ही है ? क्योंकि मंदिरों के बाहर न तो तुम्हारी आंखों में पवित्रता की झलक होती है और न तुम्हारी श्वासों में प्रार्थनाओं की ध्वनि। मंदिरों के बाहर तो तुम ठीक वसे ही होते हो जैसे कि वे लोग कि जो कभी मंदिरों में नहीं गये हैं। क्या इससे तुम्हारा मंदिरों में जाना व्यर्थ सिद्ध नहीं हो जाता है ? क्या यह संभव है कि मंदिर की सीढ़ियों के बाहर तुम कठोर और भीतर करूण हो जाते होओगे ? क्या यह विश्वास योग्य है कि मंदिरों के द्वारों में प्रविष्ठ होते ही हिंसक चित्त प्रेम से भर जाते हों ? जिन हृदयों में सर्व के प्रति प्रेम नहीं है, उनमें परमात्मा के प्रति प्रार्थनाओं का जन्म ही कैसे हो सकता है ?

जीवन ही जिसका प्रेम नहीं है, उस जीवन में प्रार्थना असंभव है।

और कण कण में ही जिसके लिए परमात्मा नहीं है, उसके लिए कहीं भी परमात्मा नहीं हो सकता है।

एक रात्रि की घटना है। कोई अजनबी यात्री मक्का के मंदिर में थका मांदा पहुंचा है और सो गया है। उसके अपवित्र पैर काबा के पवित्र पत्थर की ओर देखकर पुरोहित क्रोध से भर जाते हैं। वे उसके पैरों को पकडकर घसी-

टते हैं और कहते हैं : 'यह तुमने कैसा अपराध किया ? पवित्र पत्थर के मंदिर का अपमान करने का साहस ? यह सोने का ढंग है ? परमात्मा के मंदिर की ओर पैर तो निश्चय ही कोई नास्तिक ही कर सकता है।' उनकी क्रोधभरी मुद्रायें देखकर और उनके अपमान भरे कटु वचन सुनकर भी वह यात्री हंसने लगता है और कहता है : 'मेरे प्यारे, मैं तो वहीं पैर कर लूं जहां परमात्मा न हो ? आप कृपा करें और मेरे पैर वहीं कर दें ? मैं स्वयं तो उसके मंदिर को सभी ओर और सभी दिशाओं में पाता हूं' ये अजनबी यात्री थे, नानक। उन्होंने जो कहा, वह कितना सत्य है। परमात्मा निश्चय ही सब ओर है। लेकिन मैं पूछता हूं कि क्या पैरों में भी वही नहीं है ? वही तो है। उसके सिवाय और क्या है ? अस्तित्व ———— समग्र अस्तित्व ही तो वह है। लेकिन मंदिरों में, मूर्तियों में, तीर्थों में उसे देखनेवाली आंखें अक्सर ही उसे उसकी समग्रता में देखने में अंधी हो जाती हैं।

———

४. एक यात्रा की बात है। कुछ वृद्ध स्त्री पुरुष तीर्थ जा रहे थे। एक संन्यासी भी उनके साथ थे। मैं उनकी बातें सुन रहा था। संन्यासी उन्हें समझा रहे थे : 'मनुष्य अंत समय में जैसे विचार करता है, वैसी ही उसकी गति होती है। जिसने अंत सम्हाल लिया, उसने सब सम्हाल लिया। मृत्यु के क्षण में परमात्मा का स्मरण होना चाहिए। ऐसे पापी हुए हैं, जिन्होंने भूल से ही अन्त समय परमात्मा का नाम ले लिया था और आज वे मोक्ष का आनन्द लट रहे हैं।' संन्यासी की बातें अपेक्षित प्रभाव पैदा कर रही थी। वे वृद्धजन अपने अंतसमय में तीर्थ जा रहे थे, और मनचाही बात सुन उनके हृदय फूले नहीं समाते थे। सच ही सवाल जीवन का नहीं, मृत्यु का ही है, और जीवन भर के पापों से छूटने को भूल से ही सही, बस परमात्मा का नाम लेना ही पर्याप्त है। फिर वे तो भूल से नहीं, जान-बुझकर ही तीर्थ जा रहे थे। उनकी प्रसन्नता स्वाभाविक ही थी। और इस प्रसन्नता में ही वे संन्यासी की सेवा भी कर रहे थे।

मैं उनके सामने ही बैठा था। संन्यासी की बात सुनकर हंसने लगा तो संन्यासी ने सक्रोध पूछा : "क्या आप धर्म पर विश्वास नहीं करते हैं ?" मैंने कहा : 'धर्म कहां है ? अधर्म के सिक्के ही धर्म बनकर चल रहे हैं। और खोटे सिक्के ही विश्वास मांगते है। असली सिक्के तो आंखें चाहते हैं। विश्वास की

उन्हे आवश्यकता ही नहीं। विवेक जहां अनुकूल नहीं है वहीं विश्वास मांगा जाता है। विवेक की हत्या ही तो विश्वास है। लेकिन न तो अंधे मानने को राजी होते हैं कि अंधे हैं और नही विश्वासी ही राजी होते हैं : अंधों ने और अंधों के शोषकों ने मिलकर जो षड्यंत्र किया है उसने करीब करीब धर्म की जड़ें ही काट डाली हैं। धर्म की साख है। और अधर्म का व्यापार है। यह जो आप इन वृद्धों को समझा रहे हैं, क्या उसपर कभी विचार किया है? जीवन कैसा ही हो, बस अंत समय अच्छे विचार होने चाहिए? क्या इससे भी अधिक बेईमानी की कोई बात हो सकती है? और क्या यह संभव है? बीज नीम के, वृक्ष नीम का और फल आम के लगा रहे हैं? जीवन जैसा है, उसका निचोड ही जो मृत्यु के समय चेतना के समक्ष हो सकता है? मृत्यु क्या है? क्या वह जीवन की ही परिपूर्णता नहीं है? वह जीवन के विरोध में कैसे हो सकती है? वह तो उसका ही विकास है। वह तो जीवन का ही फल है। यह सब कल्पनायें काम नहीं देंगी कि पापी अजामिल मरते समय अपने लडके नारायण को बुला रहा था और इसीलिए भूल से भगवान का नाम उच्चरित हो जाने से सब पापों से मुक्त हो मोक्ष को प्राप्त हो गया है। मनुष्य का पापी मन क्या आविष्कार नहीं कर लेता है? और इन भयभीत लोगों का शोषण करनेवाले व्यक्ति तो सदा ही मौजूद हैं। फिर भगवान का क्या कोई नाम है? भगवान की स्मृति तो एक भावदशा है। अहंकारशून्यता की भावदशा ही परमात्मा की स्मृति है। जीवनभर अहंकार की धूल को जो स्वयं से झाडता है, वही अंततः अहंशून्यता के निर्मल दर्पण को उपलब्ध कर पाता है। यह भूल से किसी नाम के उच्चार से तो हो ही नहीं सकता। यदि कोई किसी नाम को भगवान का मानकर भी जीवन भर धोकता रहे तो भी उसकी चेतना भागवत चैतन्य से भरने की बजाय और जडता से ही भर जायगी। किसी भी शब्द की पुनरुक्ति मात्र चेतना को जगाती नहीं, और सुलाती है। फिर अजामिल पता नहीं अपने नारायण को किसलिए बुला रहा था? बहुत संभव तो यही है कि अपने अंतसमय को निकट जानकर स्वयं के जीवन की कोई अधूरी योजना उसे समझा जाना चाहता हो! अंतिम क्षणों में स्वयं के जीवन का केन्द्रीय तत्व ही चेतना के समक्ष आता है और आ सकता है।'

फिर एक घटना भी मैंने उनसे कही :

एक वृद्ध दुकानदार मृत्युशय्या पर पडा था। उसकी शय्या के चारों ओर उसके परिवार के शोकग्रस्त व्यक्ति जमा थे। उस वृद्ध ने अचानक आंखें खोली

और बहुत विकल होकर पूछा : 'क्या मेरी पत्नी यहां है ?'

उसकी पत्नी ने कहा : 'हां। मैं यहां हूं।'

'और मेरा बडा लडका ?'

'वह भी।'

'और बाकी पांचों लडके ?'

'वे भी।'

'और चारों लडकियां ?'

'सभी यहीं है, तुम चिन्ता न करो और आराम से लेट जाओ।' पत्नी ने कहा।

'इसका क्या मतलब है ?' मरणासन्न रोगी ने बैठने की कोशिश करते हुए कहा —— 'फिर दुकान पर कौन बैठा है ?'

---

५. मैं एक ८४ वर्ष के बूढ़े आदमी की मरणशय्या के पास बैठा था। जितनी बीमारियां एक ही साथ एक ही व्यक्ति को होनी संभव हैं, सभी उन्हें थीं। एक लम्बे अरसे से वे असह पीड़ा झेल रहे थे। अंत में आंखें भी चली गई थीं। बीच बीच में मूर्च्छा भी आ जाती थी। बिस्तर से तो अनेक वर्ष से नहीं उठे थे, दुख ही दुख था। लेकिन फिर भी वे जीना चाहते थे। ऐसी स्थिति में भी जीना चाहते थे। मृत्यु उन्हें अभी भी स्वीकार नहीं थी। जीवन चाहे साक्षात् मृत्यु ही हो फिर भी मृत्यु को कोई स्वीकार नहीं करता है। जीवन का मोह इतना अंधा और अपूर क्यों है ? यह जीवैषणा क्या क्या सहने को तैयार नहीं कर देती है ? मृत्यु में ऐसा क्या भय है ? और जिस मृत्यु को मनुष्य जानता ही नहीं, उसमें भय भी कैसे हो सकता है ? भय तो ज्ञात का ही हो सकता है। अज्ञात का भय कैसा ? उसे तो जानने की जिज्ञासा ही हो सकती हैं।

उन वृद्ध को जो भी देखने जाता था, उसके सामने ही रोने लगते थे। शिकायतें ही शिकायतें। मृत्यु–क्षण तक भी शिकायतें नहीं मरती हैं ? शायद मृत्यु के बाद भी वे साथ देती हैं !

डाक्टरों, वैद्यों, हकीमों —— सभी से वे ऊब चुके थे, लेकिन अभी भी निराश नहीं थे। किसी न किसी चमत्कार के बल और आगे भी अभी जीने की उन्हें आशा थी।

मैंने एकांत देखकर उनसे पूछा : 'क्या आप अब भी जीना चाहते हैं ?' निश्चय ही वे चौंके थे। सोचा होगा : यह कैसी अपशकुन की बात मैंने पूछी। फिर बड़े कष्ट से बोले थे: 'अब तो परमात्मा से एक ही प्रार्थना है कि उठाले !' लेकिन जो वे कह रहे थे, उसकी असत्यता उनके चेहरे के कण – कण से प्रगट होती थी।

एक कथा मुझे स्मरण आई थी।

एक लकड़हारा था। दीन, दरिद्र, दुखी और वृद्ध। पेट भर पाने योग्य लकडियां भी वह अब नहीं काट पाता था। उसकी जीवनशक्ति रोज रोज क्षीण होती जाती थी। संसार में आगे – पीछे भी उसका कोई नहीं था। जंगल में लकड़ियां काटकर एक दिन वह उन्हें बांध रहा था। तभी उसके मुंह से निकला 'इस वृद्धावस्था के कष्टपूर्ण जीवन से छुटकारा दिलाने के लिए मौत भी मुझे नहीं जाती ?' किंतु उसके मुंह से इन शब्दों के निकलते ही उसने किसी को पीछे खड़ा हुआ अनुभव किया। कोई अदृश्य और अत्यंत ठंडा हाथ भी उसके कंधे पर था। उसके तन – प्राण कांप उठे। उसने मुड़कर देखा : कोई भी तो नहीं था। फिर भी कोई जरूर था। उसके कंधे पर ठंडे हाथ का भार स्पष्ट था। इसके पहले कि वह कुछ बोलता, वह अदृश्य शक्ति स्वयं ही बोली : 'मैं मृत्यु हूं। बोलो, मैं तुम्हारे लिए क्या करूं ?' उस बूढ़े लकडहारे की बोलती ही खो गई। सर्दी के दिन थे, लेकिन उसके शरीर से पसीना धारों में बहने लगा। किसी भांति शक्ति जुटाकर उसने कहा : 'हे देव ! मुझ गरीब पर दया करो। मुझसे तुम्हें क्या काम है ?' मृत्यु ने कहा :' 'मैं हाजिर हूं, क्योंकि तुमने मुझे स्मरण किया था ?' उस वृद्ध लकड़हारे ने होश सम्हाला और बोला : 'क्षमा करें। मैं तो भूल ही गया। इस लकड़ियों के गट्ठर को उठाने में मेरी मदद कर दे । इसीलिए ही आपको पुकारा था। और भविष्य में एक तो मैं बुलाऊंगा ही नहीं, और भूल से यदि बुला भी लूं तो भी आपको आने की आवश्यकता नहीं है। प्रभु कृपा से मैं बहुत आनन्द में हूं।'

मैं यह सोच ही रहा था कि एक व्यक्ति ने आकर उन वृद्ध को कहा: 'एक फकीर आया है। उसकी चमत्कारिक शक्तियों की बड़ी चर्चा है। क्या आपको दिखाने के लिए मैं उन्हें बुला जाऊं ?' वृद्ध के चेहरे पर आशा की चमक आ गई और वे किसी तरह उठकर बैठ गये और बोले : 'फकीर कहां है ? जल्दी लिवा लायें। मैं ऐसा कोई ज्यादा बीमार भी तो नहीं हूं। असल में डाक्टर ही मुझे मारे डाल रहे हैं। परमात्मा बचाना चाहता है, इसीलिए तो मैं उन

सबके वावजूद भी बचा हुआ हूं। प्रभु जिसे बचाना चाहता है, उसे कौन मार सकता है?'

फिर मैंने विदा ली। किंतु घर पहुंचा ही था कि पीछे से ही खबर पहुंची कि वृद्ध अब इस संसार में नहीं हैं।

---

६. एक करोड़पति ने महल बनवाया था। उसका जीवन बीतते – बीतते वह महल बनकर तैयार हुआ था। अवसर ही ऐसा होता है। रहने के लिये जिसे बनाते हैं, उसे बनाने में ही रहने वाला मिट जाता है। निवास तैयार करते हैं और समाधि तैयार होती है। यही हुआ था। महल तो बन गया था। लेकिन बनानेवाले के जाने के दिन आ गये थे। किंतु महल अद्वतीय बना था। अहंकार तो अद्वतीयता ही चाहता है। उसके लिए ही तो मनुष्य अपनी आत्मा भी खो देता है। अहं, जो कि है ही नहीं, सर्वप्रथम होकर ही तो स्वयं के होने का अनुभव कर पाता है। सौंदर्य में, शिल्प में, सुविधा में — सभी भांति वह भवन अद्वतीय था और धनपति के पैर पृथ्वी पर नहीं पड़ रहे थे। राजधानी भर में उसकी ही चर्चा थी। जो भी देखता था मंत्रमुग्ध हो जाता था। अंततः स्वयं सम्राट भी उसे देखने आया। वह भी अपनी आंखों पर विश्वास नहीं कर सका। उसके स्वयं के महल भी फीके पड़ गये थे। भीतर तो उसे ईर्ष्या ही हुई, पर ऊपर से उसने प्रशंसा ही की। धनपति ने तो उसकी ईर्ष्या को ही वस्तुतः प्रशंसा माना। सम्राट की प्रशंसा का आभार मानते हुए उसने कहा : 'सब परमात्मा की कृपा है।' लेकिन, हृदय में तो वह जानता था ही कि सब मेरा ही पुरूषार्थ है। सम्राट को बिदा देते समय द्वार पर उसने कहा : 'एक ही द्वार मैंने महल में रखा है। ऐसे में चोरी असंभव है। कोई भीतर आवे या बाहर जावे, इसी द्वार से आना-जाना अनिवार्य है।' एक वृद्ध भी द्वार पर भीड़ में खड़ा था। भवनपति की बात सुनकर वह जोर से हंस पड़ा। सम्राट ने उससे कहा : 'क्यों हंसते हो?' वह बोला :' "कारण भवनपति के कान में ही बता सकता हूं" फिर वह भवनपति के पास गया और कान में बोला : 'महल के द्वार की तारीफ सुनकर ही मुझे हंसी आ गई थी। इस पूरे महल में वही तो एक खराबी है। मृत्यु उसी द्वार से आयेगी और आपको बाहर ले जायेगी। वह द्वार और न होता तो सब ठीक था।'

जीवन के जो भी भवन मनुष्य बनाता है, उन सभी में यह खराबी रहती

है। इसीलिए तो कोई भी भवन आवास सिद्ध नहीं होता है। एक द्वार उन सभी में शेष रह जाता है, और वही मृत्यु का द्वार बन जाता है।

लेकिन क्या जीवन का ऐसा भवन संभव नहीं है, जिसमें मृत्यु के लिए कोई द्वार ही न हो?

हां। संभव है।

किन्तु उस भवन में दीवारें नहीं होती हैं, बस द्वार ही द्वार होते हैं। द्वार ही द्वार होने से द्वार दिखाई नहीं पड़ते हैं।

और मृत्यु वहीं आ सकती है, जहां द्वार है। जहां द्वार ही द्वार हैं, वहां द्वार ही नहीं है।

अहंकार जीवन में दीवारें बनाता है। फिर स्वयं के आने-जाने के लिए उसे कम से कम एक द्वार तो रखना ही होता है। यही द्वार मृत्यु का द्वार भी है।

अहंकार का भवन मृत्यु से नहीं बच सकता है। उसमें एक द्वार सदा ही शेष है। वह स्वयं ही वह द्वार है। यदि वह एक भी द्वार न छोड़े तो भी मरेगा। वह आत्मघात है।

किन्तु अहंकार शून्य जीवन भी है। वही अमृत जीवन है। क्योंकि मृत्यु को आने के लिए उसमें कोई द्वार ही नहीं है और न मृत्यु को गिराने के लिए उस भवन में कोई दीवारें ही हैं।

अहंकार जहां नहीं है, वहां आत्मा है।

आत्मा है आकाश जैसी असीम और अनंत। और जो असीम है, और अनन्त है, वही अमृत है।

---

७. कैसा आश्चर्य है कि मनुष्य जन्म को तो स्वीकार करता है किन्तु मृत्यु को नहीं? जबकि जन्म और मृत्यु एक ही घटना के दो छोर हैं। जन्म में ही मृत्यु छिपी है। क्या जन्म मृत्यु का ही प्रारंभ नहीं है? फिर मृत्यु की अस्वीकृति से भय पैदा होता है। भय से पलायन और भयभीत और भागा हुआ चित्त मृत्यु को समझने में ही असमर्थ हो जाता है। किन्तु कोई कितना ही भागे मृत्यु से तो भागना असंभव है। वह तो जन्म में ही उपस्थित हो गई है। मृत्यु से भागा नहीं जा सकता वरन् सब भांति भागकर अंत में पाया जाता है कि मृत्यु में ही पहुंचना हो गया है।

(अनुसंधान पेज नं. ८१ पर देखें)

अमृत मंथन

(प्रवचन सार)

संकलन : सौ. उर्मिला, एम. ए.

१. परमज्ञान की भूमिका :

चित्त शांति के लिये विचार के प्रति परिग्रह अत्यंत आवश्यक है। हमें यह स्पष्ट बोध होना चाहिये कि हमारे मस्तिष्क में जो असंख्य विचार एकत्रित हैं वे हमारे नहीं हैं, वे बाहर से आये हुये हैं। किसी भी विचार की उत्पत्ति हमारे मन में नहीं हुई, सब किसी न किसी शास्त्र, किसी न किसी सत्पुरुष से उधार लिये गये हैं। यदि इनके प्रति हमारा मोह बना रहे तो चित्त शून्य नहीं हो सकेगा, क्योंकि वे उसे सदा आच्छादित किये रहेंगे।

ज्ञान और विचार में मुख्य अंतर यही है कि विचार सदा दूसरों से ग्रहण किये जाते हैं और ज्ञान मनुष्य के भीतर स्वयं जागृत होता है। विचार आगमन है किन्तु ज्ञान जागरण है जो कि विचार निर्जरा से बाद ही प्रगट होता है। विचार रुपी आच्छादन के हट जाने से ही शुद्ध ज्ञान उद्‌बुद्ध होता है। ज्ञान विचार की भांति सीखा नहीं जाता, उघाडा जाता है।

विचारों का परिग्रह वस्तुओं के परिग्रह से कहीं अधिक घातक है। मृत्यु वस्तुओं को तो छीन लेती है किन्तु विचारों को नहीं छीन सकती। विचार तो अगले जन्म में भी अपने साथ जाते हैं क्योंकि मृत्यु शरीर को ही नष्ट कर पाती है, मन को नहीं, वह तो साथ ही जाता है। इसीलिये जब मन में थोडी सी भी सामर्थ्य पैदा हो जाती है तो पिछले जन्म के विचारों को आसानी से जाना जा सकता है क्योंकि वे अचेतन मन के हिस्से हैं जो अब भी वर्तमान हैं। विचार ही मनुष्य को बार बार जन्मों में वापिस लाता है। वह आपकी अस्मिता है अगर वह भी छिन जाये तो फिर संसार में ही मोक्ष हो जाता है।

विचारों का परिग्रह तभी टूट सकता है जब यह सोचा जाये कि ये विचार अपने हैं ही नहीं। ये मस्तिष्क की मौलिक उत्पत्ति नहीं हैं, ये तो बाहर से आये हैं और इनका संग्रह हमने कर लिया है। धन और यश के संग्रह की भांति विचारों का संग्रह भी अहंकार की पुष्टि करता है। यदि धनिक को अपने धन का घमंड है तो पंडित को अपने विचारों का। धन बाहर की वस्तु है अतः परिस्थितिवश नष्ट हो सकता है किन्तु विचार किसी भी परिस्थिति में नष्ट नहीं होते। यद्यपि विचार हमारे चैतन्य से बाहर हैं तथापि वे देह के भीतर हैं इसलिये वे अपने मालूम होते हैं और उन्हें बडे मोह से हम पकडे रहते हैं। इसीलिये पंडित धनिक से कहीं अधिक परिग्रही होता है।

इन उधार लिये विचारों के कारण ही नाना प्रकार के विवाद होते हैं और लोग आपस में लडते झगडते हैं। यदि ध्यान से इन विचारों का विश्लेषण किया जाये तो पता चल जायेगा कि ये अपने नहीं हैं। किसी ने बुद्ध से लिये हैं तो किसी ने महावीर से या ईसा से। यहां पर यह प्रश्न भी उठ सकता है कि क्या महावीर, बुद्ध, और ईसा भी अन्य लोगों की भांति अपने पूर्व महात्माओं की विचारधाराओं से प्रभावित थे? इसका सीधा सा उत्तर यह है कि महापुरुष तो दूसरों से प्रभावित हो सकता है किन्तु सत्पुरुष नहीं। लेकिन, मार्क्स, नेहरु जैसे महापुरुष अवश्य दूसरों के विचारों से प्रेरणा ग्रहण कर सकते हैं किन्तु, बुद्ध, महावीर और ईसा जैसे सत्पुरुष नहीं। दोनों में बहुत अंतर है। महापुरुष तो सामान्य आदमी से ऊंचा है किन्तु सत्पुरुष की कोटि सामान्य एवं महापुरुष की कोटि से पृथक है। सत्पुरुष तो सामान्य और विशेष पुरुष की सीमा का अतिक्रमण है। महावीर ने दूसरों से प्रेरणा नहीं ली, उनकी प्रेरणा अपनी थी। उन्होंने समस्त बाह्य प्रभावों और संस्कारों को छोड दिया था इस प्रकार जब वे निष्प्रभाव हो गये तो उनके भीतर जो ज्ञान सोया हुआ था वह जागृत हो गया। ज्ञान सदा

मौलिक होता है। अतएव प्रत्येक सत्पुरुष ज्ञान को स्वयं प्राप्त करता है, उसे किसी से उधार नहीं लेता। निष्प्रभाव हो जानेपर और समस्त प्रभावों की निर्जरा के उपरान्त जो शेष रहता है उसी को ज्ञान कहते हैं। ज्ञान नितान्त व्यक्तिगत होता है और विचार परंपरागत होते हैं। ज्ञान से धर्म बनता है और विचारों से संप्रदाय बनता है।

शास्त्रों से उधार लिये गये विचार भीतर के सत्य को इस प्रकार आवृत्त कर देते हैं कि वह आसानी से प्रगट नहीं हो सकता। सत् और असत् दोनों प्रकार के विचार मनुष्य को बांध लेते हैं। असत् विचार वाले को दुराचारी कहा जाता है और सद् विचार वाले को सदाचारी। परन्तु जब दोनों प्रकार के विचार विलीन हो जाते हैं तो मनुष्य सत्पुरुष बन जाता है। बुरे प्रभावों को नष्ट करने की उत्सुकता सभी में होती है क्योंकि उनकी बुराई स्पष्ट दिखाई देती है। किन्तु अच्छे प्रभावों को उनकी अच्छाई के कारण कोई छोडना नहीं चाहता। अच्छे तथा बुरे प्रभाव दोनों ही बाहर से आते हैं अतः सत्यानुभूति में बाधक होते हैं। महावीर ने तो यही सिखाया था कि बाह्य प्रभावों की निर्जरा करो किन्तु लोगों ने उनके वचनों को ही शास्त्र मानकर पकड लिया है। यदि कोई महावीर के कथन को ठीक तरह से समझेगा तो वह सब प्रकार के प्रभावों से तो मुक्त होगा ही, साथ ही महावीर से भी मुक्त हो जायेगा। महावीर जैसे सद्गुरु अपने से किसी को बांधते नहीं हैं, सबको आत्म निर्भर कर देते हैं।

किसी भी श्रेष्ठ पुरुष के विचार का अपनाना आस्रव ही है अतः उसकी निर्जरा अत्यन्त आवश्यक है। जो विचार भीतर आ चुका है उसके प्रति अपरिग्रह का भाव रखना चाहिये और जो विचार अभी बाहर ही है, हमारे भीतर नहीं आया, उसके प्रति पूर्ण तटस्थता आवश्यक है।

इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी संप्रदाय को पकडे हुये है। जो जैन है, उसके हृदय में ईसाई धर्म के प्रति विरोध भाव है, और जो इसाई है उसका अन्य संप्रदायों से विरोध है। कोई भी तटस्थ होकर एक दूसरे के विचारों को सुनने और समझाने की कोशिश नहीं करता। बिना किसी पक्षपात के दूसरे की बात को ध्यान से सुनने की आदत शायद ही किसी को हो। सुनने समय भी लोग कही जा रही बात के उत्तर के बारे में सोचते रहते हैं। लोगों का यह व्यवहार उन दो पढे लिखे पागलों की याद दिलाता है जिनको एक दिन गूढ चर्चा में संलग्न देखकर मनोविश्लेषक ने जब छुपकर उनकी बातों को

सुना तो उसे यह जानकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि यद्यपि दोनों बिल्कुल असंबद्ध बातें कर रहे हैं तथापि जब पहला बोलता है तो दूसरा चुप हो जाता है, जब दूसरा बोलता है तो पहला चुप हो जाता है। जब उस मनोविश्लेषक ने उनसे पूछा कि जब आप दोनों अपना अपना राग अलाप रहे हैं तो दोनों एक साथ ही क्यों नहीं बोलते। उन पागलों ने उत्तर दिया कि हमें वार्तालाप के नियम मालूम हैं अतः हम उनका पालन करते हैं। अधिकांश लोग इन दो पागलों की भांति वार्तालाप के नियमों का ही पालन करते हैं। एक दूसरे की बात को समझने का प्रयास तो करते नहीं, केवल कही गई बात के विरुद्ध तर्क तैयार करने में लगे रहते हैं अर्थात् वे संवाद नहीं विवाद करते हैं। संवाद तो तब होता है जब अपने संगृहीत विचारों के प्रति अपरिग्रह का भाव हो, और जो नये विचार प्रस्तुत किये जा रहे हों उनके प्रति न विरोध हो न पक्षपात, सुनते समय पक्ष या विपक्ष में कोई धारणा न बन रही हो। महावीर ने उस व्यक्ति को श्रावक कहा है जिसके मन में सुनते समय न कोई विरोध उठता है, न स्वीकार ही। बिल्कुल तटस्थ होकर जब वह सुनता है तो उस समय वह सोचता नहीं। विरोध से भी प्रभाव पडता है और स्वीकार से भी। अगर विचार के तल पर तटस्थता आ जाये तो सारा संसार सांप्रदायिकता से मुक्त हो जावे, विवाद बंद हो जावें और संवाद शुरु हो जाये। तटस्थता के इस भाव से धीरे धीरे एक अंतर्दृष्टि उत्पन्न होती है जिससे सही और गलत का पता लग जाता है।

अपरिग्रह और तटस्थता के बाद तीसरा अपेक्षित तत्व है : स्वतंत्रता। जिसका ठीक ठीक अर्थ यह है कि जब तक ज्ञान उत्पन्न न हो तब तक किसी विचार विशेष के घेरे में बन्दी न होना। सब विचारों की जानकारी तो प्राप्त कर ली जाये किन्तु किसी भी विचार के कारागृह में बंदी नहीं होना चाहिये। परतन्त्रता का अर्थ है : "पर के विचारों को इस प्रकार स्वीकार कर लेना मानों वे अपने हों।" हमारी शिक्षा दीक्षा हमें स्वतंत्रता नहीं सिखाती, वह तो अपने पूर्वजों के विचारों का, अपने गुरु के विचारों का और मां बाप के विचारो का समर्थन करना सिखाती है। बचपन से ही व्यक्ति के दिमाग को विचारों के एक विशेष सांचे में ढालना आरंभ कर दिया जाता है ताकि वह समाज के निर्धारित घेरे से मुक्त न हो सके। शिक्षा दीक्षा का उद्देश्य ही होता है परतंत्र बनाना। विचार के तल पर जो जितना स्वतंत्र होगा उतना ही वह समाज के लिये खतरनाक हो जायेगा। समाज तो हर व्यक्ति को मशीन की भांति बनाना चाहता है। जो जितना अधिक मशीन की तरह बन जाता है समाज उसका उतना अधिक आदर करता है क्योंकि

मशीनों को नियंत्रण में रखना बहुत आसान है। सब राष्ट्र और सब सरकार आदमी को मशीन बनाना चाहते हैं जिससे उसका आचरण सदा उनके आदेशानुसार हो सके। वे उसे सोचने की स्वतंत्रता नहीं देना चाहते क्योंकि अपने मौलिक चिन्तन द्वारा रुढिगत बातों की पुष्टि न करके जब वह कोई नई बात कहेगा तो उनकी परंपरागत व्यवस्था में उपद्रव हो जायेगा। महावीर, बुद्ध और ईसा को अपनी विचार स्वतंत्रता के कारण सत्य की अनुभूति तो हुई, किन्तु वह सत्य उस जर्जर समाज व्यवस्था के विपरीत पड गया अर्थात् उनके विचार समाज के पक्ष में नहीं, विपक्ष में थे। इसीलिये समाज ने उनको नाना प्रकार के दुख दिये। परन्तु सत्य के अन्वेषी को समाज से मुक्त होना ही पडता है। घर छोडकर जंगल में जाने से ही समाज से छुटकारा नहीं होता है, क्योंकि जंगल में बैठकर भी समाज द्वारा सिखाये गये क्रिया कलाप और पूजा पाठ के नियमों का जो पालन किया जाता है वह भी तो एक प्रकार से सामाजिक नियंत्रण है। समाज से तो तभी मुक्त हुआ जा सकता है जब समाज द्वारा प्रस्तुत जीवन की रुपरेखा को अंगीकार ही न किया जाये। विचार के तल पर दूसरों द्वारा प्रदत्त जीवन के ढांचे में अपनें आप को बंद कर लेना, अपनी आत्मा का अपमान करना है। रहन सहन की बाहरी व्यवस्था के नियमों का यदि पालन न किया जाये तो उससे समाज को असुविधा होती है, किन्तु आंतरिक तल पर स्वतंत्र जीवन ज्योति के जगानें में तो किसी को किसी तरह की कठिनाई नहीं हो सकती। स्वतंत्रता और स्वतन्त्र साधना ही अन्त में व्यक्ति को सत्य के निकट ले जाती है।

विचार के तल पर अपरिग्रह, तटस्थता और स्वतंत्र बोध, इन तीन तत्वों की यदि प्राप्ति हो जाये तो शास्त्रों का पढना सार्थक होगा अन्यथा हानिप्रद हो सकता है। सत्य की उपलब्धि शास्त्र द्वारा नहीं होती। यदि ये तीन तत्व अपने भीतर न हों तो शास्त्र एक प्रकार से विचार आच्छादन बन जायेगा। यदि विचार के प्रति अपरिग्रह हो तो कोई भी विचार हानि नहीं पहुंचा सकता, यदि अपने भीतर विचार तटस्थता हो तो कोई भी संप्रदाय अपने घेरे में बंद नहीं कर सकता, और यदि हमारा मन स्वतंत्र है तो आकर्षक से आकर्षक विचारधारा भी हमें अपना दिमागी गुलाम नहीं बना सकती। शास्त्र के अध्ययन से पहले एक साधना से गुजरना आवश्यक है, उसके बाद ही शास्त्र अपना हो सकता है। साधना से पहले शास्त्राध्ययन तो एक प्रकार की गुलामी है। महावीर और बुद्ध ने कभी किसी से यह नहीं कहा कि जाओ : शास्त्रों का अध्ययन करो। ईसा का तो स्पष्ट उल्लेख है : "शास्त्रों से सावधान, क्योंकि शैतान भी शास्त्र

उद्धृत कर सकता है।" यह कथन बिल्कुल ठीक है। जब हमारा पक्ष कमजोर हो जाता है तो हम शास्त्रों के उद्धरण से अपने आपको शक्तिशाली बनाते हैं। जब हम अपने अज्ञान को छुपाना चाहते हैं तो शास्त्रों के उद्धरण की शरण लेते हैं, क्योंकि जो स्वयं कुछ नहीं जानता वह तोते की भांति रटी हुई बातों को आद्योपान्त दुहरा देता है। उपर्युक्त तीन तत्वों की प्राप्ति के बाद ही शास्त्राध्ययन आपकी साधना में सहयोगी हो सकता है। तब आप शून्य में, ध्यान में प्रवेश करने की योग्यता प्राप्त कर सकेंगे। शब्द संग्रह का और शून्य सत्य का द्वार है। चित्त जब किसी भी विचार से आबद्ध होता है तब तक वह उसे जानने में समर्थ नहीं हो सकता जो कि है। उसे जानने को तो स्वयं को सब भांति शांत और शून्य करना आवश्यक है। शून्यता की पूर्णता ही समाधि है। सत्य के संबंध में जानना पांडित्य है और सत्य को जानना प्रज्ञा। पांडित्य प्रज्ञा में बाधा है, वह अज्ञान का ही आवृत्त रूप है। इसीलिये उपनिषद् कहते हैं कि अज्ञान तो अंधकार में ले ही जाता है लेकिन तथाकथित ज्ञान और भी महाअंधकार में ढकेल देता है। वास्तविक ज्ञान के लिये अज्ञान से तो मुक्त होना ही है लेकिन तथाकथित ज्ञान से भी मुक्त होना पडता है। जो ज्ञान अज्ञान दोनों से मुक्त हो जाता है वही परमज्ञान का अधिकारी बनता है।

२. साधना, अंतस् और आचरण

प्रचलित धारणा यह है कि धर्म के पथ पर चलने के लिये सबसे पहले आचरण की शुद्धि आवश्यक है। मैं इस विचार से असहमत हूं क्योंकि मैं आचरण को साधना का फल मानता हूं। केवल मात्र आचरण शुद्धि साधना में सहायक नहीं हो सकती। जब तक मनुष्य को आत्म ज्ञान नहीं होता, स्व बोध नहीं होता, तब तक उसका आचरण पवित्र नहीं हो सकता। आत्म अज्ञान की अवस्था में व्यक्ति का समस्त व्यवहार अनाचार ही होता है, क्योंकि तब तक उसकी क्रियायें दूसरों को दुख और पीडा देनेवाली होती हैं, किन्तु प्रायः लोग आत्म ज्ञान की चिन्ता छोडकर आचरण की साधना को ही अपना लक्ष्य बना लेते हैं। इससे वे बाहरी कार्यों में तो अपनी बुरी प्रवृत्तियों का नियंत्रण कर लेते हैं, किन्तु भीतर तो उनका वही रूप रहता है। जिसको वे अपने स्वप्नों में और अपनी कल्पनाओं में देखते रहते हैं।

महावीर के शिष्य थे राजप्रसन्नचंद्र, जो अपना राज्य छोडकर साधना कर रहे थे। एक दिन उनका एक पुराना मित्र उनके पास से जब गुजरा तो उसने उन्हें

प्रणाम किया। किन्तु वे बिल्कुल शांत और मौन बैठे रहे। मित्र उनकी इस शांति से अत्याधिक प्रभावित हुआ और उसने जाकर महावीर से कहा कि : राजा प्रसन्नचंद्र तो मुनि हो गये हैं। जिस समय मैं उनके पास गया तो वे इतने शांत थे कि यदि उस समय उनका शरीर छूट जाता तो उन्हें मोक्ष मिल जाता। महावीर ने कहा कि यदि उस समय प्रसन्नचंद्र की मत्यु हो जाती तो वे सीधे नर्क में चले जाते, क्योंकि उस समय अपने मन में वे घोर हिन्सा कर रहे थे। आपके जाने से कुछ ही समय पहले उन्होंने दो राहगीरों को यह कहते सुना था कि बेचारा राजा तो यहां साधना कर रहा है और वहां इसके बच्चों की संपत्ति को सब मंत्री समाप्त कर रहे हैं। यह सुनते ही प्रसन्नचंद्र का खून खौल उठा और उसने सोचा कि सब मंत्रियों का सिर धड से अलग कर दे। जिस समय तुमने प्रणाम किया उस समय तो वे अपने मन में सिर काट रहे थे। यद्यपि बाहर से बिल्कुल शांत दिखाई दे रहे थे तथापि भीतर तो उनके हिन्सा का नग्न नृत्य हो रहा था। इस प्रकार की आचरण साधना से चित्त की शुद्धि नहीं होती। हां समाज के लिये यह अत्यंत उपयोगी है। समाज का काम इतने में ही पूरा हो जाता है कि व्यक्ति झूठ न बोले, हिन्सा न करे, क्रोध में लड़ाई झगड़ा न करे। किन्तु उसकी आंतरिक स्थिति कैसी है इससे समाज को कोई मतलब नहीं है। समाज चाहता है कि व्यक्ति से अपराध न हो किन्तु अपराध और पाप में अंतर है। बुरा कर्म अपराध है, मन में बुरे विचार का उठना ही पाप है। केवल मनमें हिन्सा करना पाप है, अपराध नहीं, किन्तु किसी की हत्या करना या हिन्सा करना पाप भी है और अपराध भी। समाज तो यही चाहता है कि जो पाप व्यक्ति में उठता है वह बाहर न जाये। उसकी अंतरात्मा से समाज को कोई मतलब नहीं। समाज के लिये केवल उसका आचरण महत्वपूर्ण है।

अंतरात्मा सामाजिक वस्तु नहीं है। किन्तु आचरण अवश्य सामाजिक वस्तु है। मैं क्या हूं, इससे समाज को कोई मतलब नहीं। किन्तु मैं क्या करता हूं इससे समाज को जरुर मतलब है। सामाजिक धर्म एवं शास्त्रीय धर्म केवल इतना ही है कि कोई बुरा न करे। किन्तु वास्तविक धर्म तो यह है कि व्यक्ति में हिन्सा पैदा ही न हो। यदि वह ध्यान में प्रविष्ट हो जाये तो उसमें हिन्सा जैसी बुराईयां पैदा ही न होंगी। तब उनके नियंत्रण का कोई प्रश्न ही नहीं उठेगा। जिन कारणों से उनकी उत्पत्ति होती है, वे कारण ही अब विलीन हो जायेंगे। अभी तो इनके जन्म का कारण यह है कि व्यक्ति समझता है कि

मैं देह हूं, मेरा धन है, मेरा यश है, मेरी पदवी है, मेरी प्रतिष्ठा है, 'मैं हूं।' किन्तु आत्मज्ञान के बाद मालूम होगा कि मैं कुछ भी नहीं हूं। यदि कोई उसकी सब वस्तुओं को छीन ले तब भी हिन्सा असंभव हो जायेगी, क्योंकि वह उन वस्तुओं को अपनी मानेगा ही नहीं। यदि प्रसन्नचंद्र को यह मालूम हो जाता कि मेरी जो आत्मसत्ता है वह मेरा राज्य और धन नहीं है तो उसके मन में हिन्सा जागृत नहीं होती। जब तक आंतरिक संपत्ति दिखाई नहीं देती तब तक बाहर की संपत्ति के छिन जाने का डर बना रहता है और उसके छिनने पर क्रोध होता है। हम लोग समझते हैं कि महावीर बहुत दयालु और क्षमाशील थे। इसीलिये जब लोगों ने उनको मारा तो उन्होंने कुछ भी नहीं कहा। यह बात गलत है कि वे क्षमाशील थे, इसलिये उन्होंने क्षमा कर दिया। क्षमा तो वह व्यक्ति करता है जिसमें क्रोध उठता है, क्रोध के बाद क्षमा होती है। महावीर को क्षमाशील कहने का अर्थ है कि वे क्रोधी थे। किन्तु महावीर के लिये तो क्षमा का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि उनमें क्रोध तो था ही नहीं। अतः वह उठा नहीं। क्रोध तो इसलिये जाग्रत न हो सका क्योंकि वे जानते थे कि लोग उनको नहीं, उनके शरीर को मार रहे हैं और वह मैं नहीं हूं। वे शरीर और आत्मा की दूरी को, उसके अंतर को अच्छी तरह से समझते थे। सचमुच जितना अधिक अंतर पदार्थ और चेतना में है उतना विश्व में और कहीं नहीं पाया जाता। ये दोनों दो छोर हैं। महावीर को जिस समय अपनी आत्मा उपलब्ध हो गई उस समय उनकी देह बहुत दूर चली गई। अतः शरीर की चोटों से उन्हें कोई पीडा नहीं हुई, पीडा के अभाव का कारण ही क्षमा है। महावीर की क्षमा सामाजिक उपयोगिता नहीं है। वह तो आध्यात्मिक जीवन का स्फुरण है। अतः मैं यह मानता हूं कि आत्म बोध के बाद ही आचरण का स्फुरण होता है। जब मनुष्य को अपनी आत्मा का बोध होगा तो अपने आप ही संसार से उसके सारे संबंध बदल जायेंगे और तब उसका आचरण सहज एवं स्वभाविक होगा। वह जैसा भीतर होगा वैसा ही बाहर होगा। मैं यह नहीं कहता कि लोग हिन्सा करें या क्रोध करें। मैं तो केवल यही कहता हूं कि बाह्य आचरण को ही धर्म समझना गलत है। इसे धर्म नहीं सामाजिक नीति कहना चाहिये या सामाजिक शिष्टाचार कहना चाहिये। धर्म इससे बडा है। तथ्य तो यह है कि अपराध छोडकर भी व्यक्ति पापी रह सकता है किन्तु यदि पाप ही छूट जाये तो वह अपराधी नहीं बन सकता। अपराध छोडकर व्यक्ति सज्जन हो सकता हैं किन्तु साधु नहीं। सज्जन अपराध नहीं करता किन्तु पाप करता है।

साधु पाप नहीं करता। सज्जन व्यक्ति का साधु होना आवश्यक नहीं किन्तु साधु का असज्जन होना असंभव है। अतः यदि भीतर से पाप मिट जाये, तो अपराध अपने आप ही नष्ट हो जायेगा। अज्ञान के दूर होने से अनाचार भी नहीं रहेगा। यदि ध्यान के बीच बोये जायें तो आचरण तो फूल की तरह प्रस्फुटित हो जायेगा। जीवन का केन्द्र ज्ञान है और परिधि आचरण। केन्द्र परिवर्तित होते ही परिधि स्वभावतः परिवर्तित हो जाती है। उसकी स्वयं में कोई सत्ता नहीं है। वह तो केन्द्र का ही विस्तार है। सम्यक् साधना परिधि से केन्द्र की ओर नहीं वरन् केन्द्र से परिधि की ओर गतिमान होती है। जो परिधि से केन्द्र की ओर चलना प्रारंभ करते हैं उनका जीवन एक अंतर्द्वन्द तो बन जाता है लेकिन मुक्ति नहीं। उनके जीवन में आये परिवर्तन ऊपर से लगाये गये कृत्रिम फूलों की तरह होते हैं, और जो उनके बाहर दिखाई देता है वही उनके भीतर नहीं होता। उनका व्यक्तित्व स्वयं में ही खंडित और कलहग्रस्त हो जाता है। यह द्वन्द अपनी चरम तीव्रता में विक्षिप्तता भी बन सकता है। संभवतः सभ्यता के विकास के साथ साथ विक्षिप्तता इसी का परिणाम है। यदि अंतरात्मा को बदले विना आचरणको बदलने का आग्रह कायम रहा तो उसके दो ही परिणाम हो सकते ह और हो भी रहे हैं। एक अति तो है विक्षिप्तता और दूसरी अति है स्वच्छन्दता। वह भी पहली की ही प्रतिक्रिया है। अति आंतरिक द्वन्द में या तो चित्त विकृत हो जाता है या प्रतिक्रिया स्वरूप सब भांति स्वच्छन्द। दोनों ही स्थितियां घातक है और उनमें से कोई भी मनुष्यता के लिये आत्म विनाशक सिद्ध होगी। आचरण पर अति जोर ही इन एक से संघातक विकल्पों पर मनुष्य को ले आया है। आचरण की जगह अंतरात्मा के परिवर्तन पर दृष्टि केन्द्रित हो तो व्यक्ति विना अंतर्द्वन्द म पडे स्वयं क जीवन को आमूल संपरिवर्तित कर सकता है। यह आत्मिक क्रांति शुभ अशुभ के बीच कोई चुनाव नहीं करती, वरन् उस चेतना के प्रति जागने का आग्रह करती है जो कि समस्त चुनाओं के पीछे है और समस्त विकल्पों के अतीत है। जैसे जैसे इस साक्षी चैतन्य को व्यक्ति अनुभव करता है वैसे-वैसे उसकी अंतः सत्ता एक अभिनव आलोक से भरती जाती है। उस आलोक की छाया ही सदाचरण है।

३. शास्त्र या साधना ?

मनुष्य की सत्य की खोज का कभी अंत नहीं होगा। आज भी उसकी जिज्ञासा का रूप वही है जो वैदिक और उपनिषदकाल में था। कालभेद से

उसके प्रश्नों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। वे तो चिरन्तन एवं नित्य हैं। समय समय पर अवतारों ने, ईश्वरपुत्रों ने और तीर्थंकरों ने उन प्रश्नों के जो उत्तर दिये ह वे सब शास्त्रों में संगृहीत हैं। परन्तु उन शास्त्रों के पढ लेने से ही उन प्रश्नों का समाधान नहीं हो जाता। इसका कारण यह है कि दूसरे के उत्तर से अपना प्रश्न हल नहीं हो सकता, जब तक उसका उत्तर अपने भीतर से नहीं मिलता तब तक संतोष नहीं होता। जैसे दूसरे व्यक्ति के भोजन करने से अपने शरीर का पोषण नहीं हो सकता, वैसे ही दूसरे से उधार लिया हुआ उत्तर हमारा जीवन नहीं बना सकता, न दूसरे का जाना हुआ सत्य हमारी आत्मा को शांति दे सकता है।

एक बार बुद्ध से एक आदमी ने आत्मा परमात्मा संबंधी ग्यारह प्रश्न पूछे। जब बुद्ध को मालूम हुआ कि वह पिछले तीस वर्षों से इन प्रश्नों को विभिन्न लोगों से पूछ रहा है तो बुद्ध ने कहा कि यदि तीस वर्षों में तुम्हें इनका उत्तर नहीं मिला तो अब कैसे मिल जायेगा। फिर भी यदि तुम मुझसे इनका उत्तर पाना ही चाहते हो तो मेरे पास कुछ समय ठहरो, तब मैं उत्तर देने की कोशिश करुंगा। बुद्ध के शिष्य, आनन्द ने उस आदमी से कहा कि अच्छा हो यदि तुम अभी इन प्रश्नों का उत्तर पूछ लो, क्योंकि तुम्हारी तरह अनेक लोग अपने अपने प्रश्न लेकर यहां आये किन्तु कुछ देर रहने के बाद न जाने उन्हें क्या हो जाता है कि वे फिर दो बारा उन प्रश्नों को पूछते ही नहीं। किन्तु वह आदमी बुद्ध के पास रहने को तैयार हो गया। नियत समय पर बुद्ध ने जब उससे प्रश्न पूछने के लिये कहा तो हंसते हुये उसने कहा कि अब मैं निःप्रश्न हो गया हूं। अब तो मेरे पास कोई प्रश्न ही नहीं रहा।

केवल प्रश्न पूछने से ही सत्य की उपलब्धि नहीं होती। किन्तु पूछने से यह समझ में आ जाता है कि प्रश्न के उत्तर की खोज बाहर नहीं भीतर होनी चाहिये। अर्थात पूछने से पूछने की व्यर्थता का भान हो जाता है। प्रश्न और उत्तर दोनों व्यर्थ मालूम होने लगते हैं और भीतर कहीं प्रगाढ शांति का अनुभव होने लगता है। जब कोई प्रश्न न उठे, कोई विचार न उठे तो उस निःप्रश्न और निर्विचार स्थिति में ही अपने प्रश्न का उत्तर उपलब्ध हो सकता है। दूसरों के विचारों को अपने मस्तिष्क में एकत्रित करना—वे विचार चाहे कृष्ण के हों, चाहे ईसा के, चाहे बुद्ध के—— एक प्रकार से अपनी मानसिक और आत्मिक दरिद्रता का सूचक है। इन उधार लिये हुये विचारों के त्याग के बिना आत्म बोध नहीं हो सकता। विचारों की मुक्ति के बाद ही आत्मजागृति होती है,

और अपने उत्तर एवं अपने समाधान प्राप्त होने आरंभ होते हैं। दूसरा व्यक्ति चाहे कितना ही ज्ञानी क्यों न हो, उसके उत्तर को पकड नहीं लेना चाहिये अन्यथा वह भी एक प्रकार का बोझ बन जायेगा। यदि कोई अंगुली से हमें चांद दिखाये तो हमें उस अंगुली को अत्याधिक महत्व नहीं देना चाहिये। अंगुली की सार्थकता तो इसी में है कि वह अपने से पार जो है उसे दिखलाकर रास्ते से अलग हो जाये। परन्तु खेद है कि महावीर की, बुद्ध की और कृष्ण की अंगुलियों ने जिस सत्य की ओर बढने का संकेत किया उस ओर बढने का तो लोग प्रयत्न नहीं करते, हां उन्हीं को पकडकर बैठ गये हैं। महावीर का गौतम नामक एक अत्यंत प्रिय शिष्य था। उनके जीवनकाल में उसे ज्ञान उपलब्ध नहीं हो सका था। जब वह गांव से बाहर गया हुआ था तो महावीर की मृत्यु हो गई। लौटते समय जब उसे यह दुखद समाचार मिला तो वह अत्यंत व्याकुल हो गया। आश्चर्य तो यही है कि महावीर के वचनों को लिखनेवाला व्यक्ति मृत्यु से विचलित हो आंसू बहाते हुये विलाप करने लगा 'कि अब मेरा क्या होगा ?' वे मुझे अनाथ छोड गये हैं। उनके रहते तो मुझे समाधि उपलब्ध न हुई अब कैसे होगी ?' तब यात्रियों ने उसको बताया कि महावीर ने यह सन्देश दिया था कि गौतम से कह देना कि तू सारी नदी पार कर गया है, अब किनारे पर क्यों रुक गया है। गौतम को तत्क्षण बोध हुआ कि उसने सारा संसार छोड दिया था किन्तु महावीर को छोड नहीं सका था। उसका संसार के प्रति मोह नष्ट होकर महावीर पर केन्द्रित हो गया था। महावीर का तात्पर्य यही था कि उस मोह को भी छोड दो। जिस दिन गौतम ने महावीर को छोड दिया उस दिन उसे सत्य की उपलब्धि हुई। साधना पथ पर चलनेवाले के लिये आवश्यक है कि उसके भीतर अच्छे बुरे जो भी प्रश्न उठें उन्हें पूछ ले। यदि उन प्रश्नों में उसकी मूढता या बुराई प्रगट हो जाये तो वह उनसे मुक्त हो जायेगा। अपने दोषों को वह जितना छिपायेगा उतना ही वे उसके अंदर प्रविष्ट होते जायेंगे। तब वह जीवन में प्रगति नहीं कर सकेगा।

प्रश्न दो तरह के होते हैं। एक तो शास्त्रों पर आधारित और दूसरे व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित। शास्त्रों से सीखे हुये प्रश्न यद्यपि मूल्यवान समझे जाते हैं तथापि वे व्यक्ति के खोखलेपन को ही प्रगट करते हैं क्योंकि उनके पीछे उसकी अपनी जिज्ञासा नहीं है, वह दूसरों के उधार लिये विचारों को ही अभिव्यक्ति है। जिन लोगों को आत्मबोध हुआ उन्होंने शास्त्र नहीं लिखे। शास्त्र उन लोगों ने लिखे जो नहीं जागते थे किन्तु जिनके पास बौद्धिक क्षमता

थी। बुद्ध या महावीर ने कुछ नहीं लिखा, किन्तु जिन लोगों ने उन्हें सुना उन्होंने लिखा। किन्तु तथ्य यह है कि एक ही बात को यदि सौ व्यक्ति लिखें तो प्रवृत्ति भेद के कारण उस एक बात पर आधारित सौ शास्त्र तैयार हो जायेंगे, क्योंकि बोलनेवाले का शब्द सुननेवाले के भीतर जाकर अर्थ ग्रहण करता है अर्थात सुननेवाला जो बोला जा रहा है, उसको नहीं सुनता, वह तो जो सुन सकता है, वही सुनता है। इसीलिये गीता की इतनी टीकायें बन गई हैं। इसीलिये बुद्ध और महावीर के बचनों के आधार पर नाना संप्रदाय बन गये हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि यदि महावीर को समझना है तो महावीर की चेतना स्थिति चाहिये। उस स्थिति को प्राप्त किये बिना उनके उत्तर का अर्थ समझ में नहीं आ सकता। अतः शास्त्रों पर न तो प्रश्न आधारित करने चाहिये न उनमें अपने प्रश्नों के समाधान ही खोजने चाहिये। सदा अपने व्यक्तिगत जीवन से संबंधित प्रश्न ही पूछने चाहिये, क्योंकि साधना पथ पर चलने के लिये वे ही उपयोगी हो सकते हैं।

जीवन की समस्याओं के समाधान सदा स्वयं के भीतर से ही उपलब्ध करने होते हैं। जो बाहर खोजता है, वह भटक जाता है। बाहर शब्द और सिद्धांत मिल सकते हैं लेकिन सत्य को पाना इतना आसान नहीं है। उसके लिये तो समस्याओं को जीना और जीतना पडता है। समस्याओं को उनकी समग्रता में जीना ही समाधान के जन्म की तैयारी है। समस्या और उसके जीतने के लिये किये गये संघर्ष की पीडा प्रसव की पीडा है। जो इससे बचेगा वह वास्तविक समाधान से भी वंचित हो जायेगा। शास्त्रों में समाधान की खोज इसी भांति का पलायन है। जो वस्तुतः ही समाधान के लिये दृढ प्रतिज्ञ हैं उनके लिये मार्ग शास्त्र नहीं साधना है।

४: कीचड और कमल : आसक्ति और अनासक्ति

मनुष्य की अशांति और दुख का कारण है उसकी आसक्ति। वह अपनी देह से अपनी घर गृहस्थी से, अपनी छोटी से छोटी वस्तु से इतना बंधा हुआ है कि बस वह इस विचार से सदा भयभीत रहता है कि एक दिन मृत्यु उससे ये सब छीन लेगी। सर्वाधिक मोह उसे अपनी देह के प्रति है क्योंकि वह इस देह को ही अपना अस्तित्व समझता है। इसीलिये उसकी समस्त भावनायें और समस्त विचार इसी देह पर केन्द्रित रहते हैं। घर गृहस्थी और परिवार के नाना सम्बन्धों में भी उसका अपना अहं ही प्रधान होता है, दूसरों का स्थान अत्यंत गौण होता है। वास्तव में वह घर गृहस्थी से उतना नहीं

घिरा हुआ जितना कि वह अपने आप में घिरा हुआ है। उसका स्व.. केन्द्रित मन अपने में ही इतना उलझा रहता है कि वह अपने चारों ओर देख ही नहीं पाता।

आध्यात्मिक विकास के लिये मानसिक शांति अत्यंत आवश्यक है और यह तभी संभव है जब मस्तिष्क निर्विचार हो जाये। जब विचार धीरे धीरे शांत हो जाते हैं और मस्तिष्क आकाश की भांति खाली हो जाता है तब सत्य और ज्ञान की उपलब्धि होती है, तब स्व बोध होता है। किन्तु इस आत्म ज्ञान की प्राप्ति के लिये यह बहुत आवश्यक है कि हम अपने दैनिक व्यस्त जीवन की परिस्थितियों से अलग हटकर अपने आप को देखें, अपने जीवन का अपनी घर गृहस्थी का, अपने व्यक्तित्व की उलझनों का तटस्थ पर्यवेक्षण करें और उस विश्लेषण से जो समाधान प्राप्त हो उसके अनुसार अपने जीवन को ढालना आरंभ करें। तब धीरे धीरे उस स्थिति में पहुंच सकेंगे, जिसे जल में कमलवत् रहना कहा गया है। किन्तु बिना आत्म ज्ञान के यह संभव नहीं है। आत्म साधना के लिये एकान्त अत्यन्त उपयोगी होता है। एकान्त में जाने का अर्थ जीवन की सामान्य स्थिति से भागना नहीं अपितु जीवन से संबंधित होना है। मन की अशांति के नाना कारणों से दूर होकर ही विचारों की निरन्तर धारा खंडित हो सकती है। अतः वर्ष में एक बार व्यवस्था करके अवश्य किसी वन प्रदेश के एकांत में चले जाना चाहिये।

जब तक मनुष्य स्वयं को नहीं जान लेता तब तक वह सच्चे अर्थ में किसी से प्रेम नहीं करता। स्व बोध के बाद तो उसके प्रेम के क्षेत्र का इतना विस्तार होता है कि समस्त संसार ही उसका परिवार बन जाता है और उसकी छोटी गृहस्थी विशाल गृहस्थी में विलीन हो जाती है। तब वह दूसरों से प्रेम करेगा, मोह नहीं। अर्थात् जिन लोगों के प्रति उसका प्रेम होगा उन्हें बांधने की कोशिश नहीं करेगा बल्कि उन्हें मोह मुक्त करने में सहयोगी होगा। सच्चे प्रेम की अनुभूति व्यक्ति में यह भावना पैदा कर देती है कि उसकी तरह अन्य लोग भी कीचड से उठकर कमल बन जायें। कमल को पंकज कहा गया है। पंक से उसकी उत्पत्ति होती है किन्तु वह वहीं नहीं रह जाता। अपनी परिपूर्णता को प्राप्त करने के लिये, अपने पूर्ण विकास के लिये वह उस पंक से ऊपर उठता है, फिर पानी को पार करता है तब उसका दिव्य विकास होता है। कमल की भांति मनुष्य को भी अपनी पूर्णता तभी प्राप्त होती है जब वह मिट्टी और जल की दोनों पर्तो को पार कर जाता है। दो शरीरों से उत्पन्न हुआ उसका

शरीर ही मिट्टी है और उत्पन्न होने के बाद उसके चारों ओर की परिस्थिति ही जल है। जब वह अपनी देह के मोह को और संसार के घेरे को पार कर जाता है तभी वह कमल की स्थिति में पहुंचता है। जब तक वह यह समझता है कि 'मैं देह हूं' तब तक उसमें अपनी देह का मोह और दूसरों की देह का आकर्षण बना रहता है। जब तक वह स्वयं को पदार्थ समझता है तब तक पदार्थ के प्रति उसका मोह बना रहता है। किन्तु जिस दिन उसे यह ज्ञान हो जाता है कि वह पदार्थ नहीं, चैतन्य है, उसी दिन पदार्थ के प्रति उसका मोह विलीन हो जाता है। तब वह संसार रुपी जल में कमलवत् निर्लिप्त रह सकेगा अर्थात् सबके बीच रहते हुये भी वह सदा अकेला रहेगा और जो काम करेगा उसके प्रति उसकी कोई आसक्ति नहीं होगी। एक साधु एक पेड के नीचे एक झोपडे में रहता था और एक राजा उससे इतना प्रेम करता था कि वह उसे दरिद्रता की उस अवस्था में नहीं रहने देना चाहता था। अतः उसने उस साधु से अपने महल में रहने का अनुरोध किया। साधु ने कहा : "जैसी तुम्हारी इच्छा।" राजा साधु को लेकर जब अपने महल की ओर जाने लगा तो रास्ते में उसे सन्देह हुआ कि यह कैसा साधु है, उसने एक बार भी राजमहल में जाने से इंकार नहीं किया। तब राजा ने उसे जिस सुन्दर भवन में ठहराया वह वहां ठहर गया, जिस बढिया बिस्तर पर सुलाया वह बिना किसी आपत्ति के उस पर सो गया और जो स्वादिष्ट भोजन उसे दिया गया वह उसने खा लिया। उसकी महल में इस प्रकार रहते देखकर राजा के मन में संदेह हुआ कि वह अच्छा साधु नहीं है। थोडे ही दिनों में उसकी श्रद्धा इस संदेह से खंडित हो गई। वस्तुतः वह साधु को नहीं जानता था। अतः उसकी श्रद्धा साधु के प्रति नहीं अपितु वैराग्य के बाह्य चिन्हों के प्रति थी। उसके झोपडे के प्रति थी। उसकी दरिद्र अवस्था के प्रति थी। तब एक दिन राजा से न रहा गया और उसने साधु से कहा कि जबसे आप महल में आये हैं, मुझे ऐसा लगता है कि मुझमें और आपमें कोई अंतर नहीं है, जैसे मैं रहता हूं वैसे ही आप भी रहते हैं। साधु ने मुस्करा कर कहा कि यदि तुम अंतर जानना चाहते हो तो चलो, शहर के बाहर पहुंच कर बताता हूं। जब शहर के बाहर पहुंचे तो साधु ने कहा : और आगे चलो। चलते चलते जब राजा थक गया तो उसने फिर साधु से वही प्रश्न किया। साधु ने कहा कि मैं तो इसी प्रकार आगे बढता जाऊंगा, आप भी चलेंगे। राजा ने कहा "मैं कैसे जा सकता हूं ? मेरी पत्नी और मेरे बच्चे प्रतीक्षा कर रहे होंगे।" साधु ने तब उत्तर दिया: " मुझे बांधनेवाला कोई नहीं है। इस

लिये मैं जाता हूं। मैं तुम्हारे महल में अवश्य रहता था किन्तु वह महल मेरे भीतर नहीं था, अतः वहां रहने से मुझे न कोई सुख मिला और उसके छोडने में मुझे न कोई दुख हुआ," तब राजा की आंखें खुली। संसार में इस अनासक्त भाव से रहने को ही कर्मयोग कहा गया है। संसार से दूर भागने से मोह दूर नहीं होता। यदि अपने आप को परिवर्तित कर लिया जाये तो संसार का कोई प्रलोभन मनुष्य को अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकता।

आत्मज्ञान का परिणाम है अमोह। यदि अमोह हो तो अनासक्ति फलित होती है। तब उस साधु की भांति महल और झोपडे में कोई अंतर नहीं दिखाई देता। किंतु जब तक यह अंतर्दृष्टि पैदा न हो जाये तब तक केवल सोचने मात्र से ही अपना व्यवहार जल में कमल जैसा नहीं हो सकता। आसक्ति दुख मूल है। जीवन का सारा संताप उसी से जन्म पाता है। अनासक्ति आनन्द है किन्तु आसक्त मन जोर जबरदस्ती से उसे उपलब्ध नहीं कर सकता। वह तो अनासक्ति को आनन्द जानकर उसके प्रति भी आसक्त हो जाता है। अनासक्ति भी उसे आसक्ति बन जाती है। ऐसी जो विरक्ति है वह प्रच्छन्न राग ही है और ऐसा जो वैराग्य है वह मोह का ही रूप है। संसार ही नहीं, आसक्त मन हो तो मोक्ष भी उसे बांध लेता है। इसलिये प्रश्न आसक्त मन के द्वारा अनासक्ति की चाह का नहीं वरन् स्वयं की आसक्ति और उसके मूलभूत कारणों को जानने का है। ज्ञान मुक्तिदायी है। यह जानते ही कि अग्नि जलाती है, अग्नि में जाना जैसे असंभव हो जाता है, वैसे ही आसक्ति दुख है, यह बोध आसक्ति से मुक्त करने लगता है। और जैसे ही आसक्ति का आकर्षण शून्य होता है वैसे ही उस चेतना का सहज जन्म हो जाता है जो कि अनासक्त है। जहां आसक्ति नहीं है, वहीं अनासक्ति है, वह आसक्ति का विरोध नहीं अभाव है।

९. धर्म : बीज की वृक्ष तक यात्रा

आनन्द मनुष्य का स्वभाव है, अतः उसकी आनन्द की आकांक्षा नितांत नैसर्गिक है। उसका चेतन व अचेतन मन निरन्तर आनन्द की खोज में संतप्त रहता है। उसकी यह खोज उसके किसी सोचविचार का परिणाम नहीं है। अवश्य ही किसी तल पर वह आनन्द में प्रतिष्ठित है। इसीलिए वह आनन्द की प्राप्ति के लिए इतना उत्सुक रहता है और दुख से सदा दूर रहना चाहता है। दुःख के साथ मनुष्य को कोई आंतरिक संबंध नहीं है। दुख उसके भीतर संगीत नहीं विसंगीत

पदा [करता है इसीलिए वह उसे कभी स्वीकार नहीं करता। खोज तो सदा उसकी की जाती है जो अपने स्वरूप से मेल खाता हो और विरोध उसका किया जाता है जो अपने स्वरूप से विपरीत होता हो। आनन्द स्वरूप के अनुकूल है और दुख प्रतिकूल।

मानव की आंतरिक सत्ता में प्रतिष्ठित जो आनन्द सदा आवृत्त रहता है उसकी उपलब्धि धर्म द्वारा होती है क्योंकि धर्म उसके उघाडने की, उसके आविष्कार की विधि है। यद्दपि विज्ञान और धर्म के क्षेत्र अलग अलग हैं और दोनों का परस्पर कोई संबंध नहीं है, तथापि धर्म को भी मैं विज्ञान ही मानता हूं। विज्ञान पदार्थ के भीतर जो छुपा है उसका अन्वेषण करता है और धर्म चैतन्य में जो छुपा है उसकी शोध करता है। विज्ञान पदार्थ का विश्लेषण करके उसकी अन्तर्हित शक्ति का आविष्कार करता है, धर्म चैतन्य के भीतर जो प्रसुप्त है उसकी शोध करता है। विज्ञान अपनी खोज के अंत में पहुंचा है अणु और परमाणु पर, और धर्म की खोज का अन्त है आत्मा। अणु की विनाशकारी शक्ति से आज समस्त संसार भयाकूल है। सब विचारकों के सामने एकमात्र यही प्रश्न है कि क्या मनुष्य उस अंतिम चरण पर पहुंच गया है जहां वह सार्वजनिक आत्मघात कर लेगा? ऐसी स्थिति असंभवित नहीं है, क्योंकि पदार्थ की शक्तियां अन्धीं होतीं है और अगर इन शक्तियों के विकास के साथ-साथ उनके नियंत्रक मनुष्य का विकास न हुआ तो मानवता का अंत निश्चित है। अतएव आज मनुष्य की सुप्त आत्मिक शक्ति को जागृत करना अत्यंत आवश्यक है। किन्तु विज्ञान आत्मा को अस्वीकार करता है क्योंकि मनुष्य के शरीर के विश्लेषण से उसे आत्मा संबंधी कोई सूचना प्राप्त नहीं होती। विज्ञान के प्रभाव के कारण अब आस्तिक लोगों के मन में भी यह सन्देह उत्पन्न हो गया है कि न जाने आत्मा है भी या नहीं। परन्तु विज्ञान के इस सीमित दृष्टिकोण के ठीक विपरित कथन है कृष्ण का, महावीर का, बुद्ध का और ईसा का। उनका कहना है कि जो दिखाई दे रहा है वही सब कुछ नहीं है और न जीवन की सार्थकता ही उसमें हैं। जो दिखाई नहीं पडता, जो पृष्ठभूमि में है वह सार्थक है। जो दिखाई पडता है उसका कोई मूल्य नहीं किन्तु जिसको दिखाई पडता है उसका मूल्य है। इस क्रांतिकारी बिंदू के अन्तर को समझे बिना धर्म को नहीं समझा जा सकता है। धर्म उसकी खोज है जिसको सब दिखाई पड रहा है और विज्ञान उसकी खोज है जो दिखाई दे रहा है, अर्थात विज्ञान दृश्य की, वस्तु (object) की खोज है और धर्म उस अदृष्ट दृष्टा की। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि पदार्थ

पदार्थ को नहीं देख सकता, न पदार्थ को पदार्थ का ही बोध हो सकता है और जिसको पदार्थ का बोध हो रहा है वह अपनी आत्यंतिक सत्ता में जड नहीं हो सकता क्योंकि बोध जडता का लक्षण नहीं है। यह होश, यह सचेतनता (awareness) जडता की सामर्थ्य के बाहर है। इसीको चैतन्य कहते हैं और इस चैतन्य की जो इकाई है उसे आत्मा कहा जाता है। इस आत्मा की उपलब्धि में ही व्यक्ति को आनंद की उपलब्धि होती है और आत्मोपलब्धि के बाद ही व्यक्ति बन्धन मुक्त होकर परम शांति प्राप्त करता है।

किंतु आश्चर्य तो यह है कि जो आत्मा निरंतर हमारे भीतर है और जिसे सबका बोध है उसी का न हमें स्मरण है न बोध हैं। यदि उसके प्रति हम जागृत हो जायें तो जीवन तत्क्षण रुपान्तरित होकर ऐसे लोक में प्रविष्ट हो जाएगा जहां न दुख है न मृत्यु, न पीडा है न संताप, वहां तो अविच्छिन्न जीवन का प्रवाह है और अविच्छिन्न शांति का राज्य है। वहां उस चैतन्य का अनुभव होता है जिस चैतन्य में दुख का कण भी प्रवेश नहीं कर सकता। तब व्यक्ति का जीवन उस साधु के जीवन जैसा हो जाता है जो एक विशाल भवन में भोज के लिए निमंत्रित था। भोजन करते समय जब वह उपस्थित लोगों से चर्चा कर रहा था तो अकस्मात भूकम्प आ गया और लोग घबड़ाकर बाहर की ओर दौडे। सीढ़ियों पर बहुत भीड़ हो जाने के कारण उस भवन के स्वामी को जब रूकना पड़ा तो उसने पीछे मुड़कर देखा कि वह साधु उसी जगह पर शांत भाव से बैठा हुआ है। उसे बड़ा आश्चर्य हुआ ऐसे असाधारण व्यक्ति को देखकर। अतः वह भी वापस आ कर उसके पास बैठ गया। कुछ क्षणों के बाद जब भूकम्प समाप्त हुआ तो साधु ने अपनी आंखें खोली और जहां से चर्चा का क्रम टूटा था वहीं से आरंभ कर दिया। आतिथेय ने कहा—"मुझे तो कुछ भी याद नहीं कि क्या चर्चा हो रही थीं। भूकम्प से पहले की दुनिया और उसके बाद की दुनिया में बहुत अन्तर हो गया है। अब तो मैं केवल यही जानना चाहता हूं कि भूकम्प आपको कंपित क्यों न कर सका? आपको वह विचलित क्यों न कर सका?" साधु ने उत्तर दिया—"कुछ वर्ष पहले भूकम्प मुझे भी विचलित कर देते थे परन्तु अब मैं अपने भीतर एक ऐसा आश्रय पा गया हूं जहां कोई भूकम्प नहीं पहुंच पाता। अतः मैं वहीं सरक जाता हूं। अपने भीतर शांति का जो केंद्र मुझे प्राप्त हो गया है वहां बाहर की कोई अशांति नहीं पहुंच पाती।" यदि हम लोग भी उस साधु की स्थिति को प्राप्त कर लें तो कोई दुख दर्द हमें प्रभावित नहीं कर सकेगा। सच तो यह है कि

हम स्वयं अपने भीतर अशांत और दुखी हैं इसलिए बाहर की अशांति, दुख और भूकम्प हमें विचलित कर देते हैं। यदि उन्हें ग्रहण करने की उत्सुकता हमारे भीतर न हो तो निश्चय ही वे हमारे पास नहीं पहुंच सकते। क्योंकि हम दुख को ग्रहण करने में समर्थ है इसलिए हम अपने अन्दर दुखों को एकत्रित कर लेते हैं। यदि हमारे भीतर आनन्द की किरण फूट जाये तो यह हमारा जगत आनन्द में परिणत हो जाये और तब हमारी संवेदनशीलता केवल आनन्द को ही ग्रहण करने में समर्थ हो जाए। यदि हमारे भीतर सुगन्ध हो तो सारा जगत सुगन्धित हो जायेगा और यदि भीतर संगीत हो तो सारा विश्व संगीतमय हो जायेगा। दुख की स्थिति में व्यक्ति के लिए सारा जगत दुःखपूर्ण बन जाता है। दुखी व्यक्ति के जगत को देखने के केंद्र का नाम संसार है और आनन्द को उपलब्ध व्यक्ति के जगत को देखने के केन्द्र का नाम "ब्रह्म", "परमात्मा" है। आनंद प्राप्त व्यक्ति के लिए यह जगत केवल संसार नहीं अपितु आनन्द की लीला है। उसके लिए तो समस्त जगत ही परमात्मा बन जाता है। तथ्य तो यह है कि भगवान कोई व्यक्ति नहीं, जगत को देखने की एक दृष्टि है। आनन्द की दृष्टि में सारा जगत भगवत्ता में परिणत हो जाता है और दुःख की दृष्टि में सारा जगत संसार हो जाता है। आत्यंतिक दुख की स्थिति में तो यह नर्क ही बन जाता है। हमारे दृष्टि—परिवर्तन के साथ बाहरी जगत भी बदल जाता है। हमारे आन्तरिक परिवर्तन पर ही सब कुछ निर्भर करता है। शांति के उस बिन्दु को उपलब्ध करने से सारा जगत भगवत्स्वरूप हो जाता है। यह धर्म द्वारा ही संभव हो सकता है और धर्म सदा एक ही होता है। उसका कोई नाम नहीं हो सकता। धर्म को जब नाना विशेषण दिए जाते हैं तो वह धर्म न होकर संप्रदाय बन जाता है। मनुष्य के इतिहास में इन विशेषणों ने, इन संप्रदायों ने धर्म को जितनी हानि पहुंचाई उतनी न तो अत्याचारियों ने पहुंचाई है, न पापियों ने और न राजनीतिज्ञोंने। इन संप्रदायों ने तो मनुष्य को मनुष्यता से तोड दिया तथा मनुष्य और मनुष्य के बीच दीवार खडी कर दी। जो मनुष्य को मनुष्य से तोड दे वह स्वयं से जोडने में समर्थ नहीं हो सकता और जो धर्म मनुष्य को स्वयं से जोड़ता है वह अनिवार्य रूप से सबसे जोड़ देता है। स्वयं से जो जुड़ गया वह सबसे जुड़ गया क्योंकि स्वयं के तल पर कोई भेद नहीं रहता तब सब में एक ही ज्योति के दर्शन होते हैं। तब सब में एक ही चैतन्य का स्पंदन अनुभव होता है।

इन नाना विशेषणों के कारण ही धर्म तिरोहित हो रहा है। सभी धार्मिक व्यक्तियों ने तो एक ही धर्म की चर्चा की है किंतु बाद में उनके अनुगामियों ने

भेद की दीवारें खडी कर ली हैं। कृष्ण, महावीर, बुद्ध और ईसा एक ही धर्म की अभिव्यक्तियां हैं । महावीर की वाणी में कहीं भी "जैन धर्म" का उल्लेख नहीं है, उन्होंने "सम्यक् धर्म" की चर्चा की है। बुद्ध ने कहीं भी "बौद्ध धर्म" का नाम नहीं लिया, उन्होंने यह कहा कि सच्चा "धर्म है"। इसी प्रकार कृष्ण ने कहीं भी धर्म के साथ "हिंदू" विशेषण का प्रयोग नहीं किया और न क्राईस्ट ने ही क्रिश्चियन धर्म का उल्लेख किया। जिन लोगों को सत्य की उपलब्धि हुई है उन्होंने धर्म को कोई नाम नहीं दिया। यदि पृथ्वी पर धर्म की उद्घोषणा करनी है तो सम्प्रदायों को छोड़ना पडेगा क्योंकि उस असीम की ओर से जाने का मार्ग किसी दूसरे से होकर नहीं जाता, स्वयं से होकर ही जाता है। इसीलिए महावीर ने कहा है—"जो मेरी शरण पकड़ेगा वह स्वयं तक नहीं पहुंच सकेगा। सत्य का द्वार तो स्वयं से होकर ही जायेगा। दूसरा कोई रास्ता न है, न था और न होगा। सबसे पहले हमें अपना ही द्वार खटखटाना पडेगा। किन्तु आश्चर्य तो यह है कि हम लोग पृथ्वी के अन्य द्वारों को खटखटाने में इतने व्यस्त रहते हैं कि अपने द्वार को बिल्कुल भूल जाते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि मनुष्य की सभी इंद्रियां बहिर्मुख हैं अतः वह कस्तूरी के मृग की भांति अपनी मूल आनंदस्वरूप सत्ता को अपने बाहर खोजने का निष्फल प्रयास करता है। मनुष्य के जीवन का संघर्ष और अंतर्द्वन्द्व यही है।

बाह्य वस्तुओं की प्राप्ति वास्तविक उपलब्धि नहीं है इसलिए उससे अन्तस् संतुष्ट नहीं होता। महावीर राजपुत्र थे। उन्हें किसी प्रकार का कोई भी अभाव नहीं था। उसके लिए बाहर पाने जैसा कुछ भी शेष नहीं था फिर भी उन्हें ऐसा लगता था कि मेरे पास कुछ भी नहीं है क्योंकि जो कुछ प्राप्त था वह सत्य नहीं था अतः पाने को सब कुछ शेष था। इस तनाव ने, द्विविधा की इस आत्यंतिक स्थिति ने उन्हें स्मरण दिलाया कि अपने भीतर खोजो, हो सकता है कि जो बाहर नहीं मिला वह भीतर मिल जाये। किंतु सब इंद्रियों के द्वार तो बाहर की ओर जाते हैं तब अपने भीतर कैसे खोज की जाय। उन्हें एक उपाय सूझा कि यदि समस्त इंद्रियां निष्क्रिय हो जायें तो बाहर जाने के सब द्वार बन्द हो जायेंगे, तब चेतना किसी बाह्य वस्तु से संबद्ध नहीं होगी और वह अपने में ही स्थित रहेगी। महावीर बारह वर्ष तक एकांत में इंद्रियों के द्वार तक न जाने की साधना करते रहे। दूसरे तक पहुंचने के लिए तो किसी मार्ग का अवलंबन लेना पड़ता है किन्तु अपने ही तक पहुंचने के लिए तो चलना नहीं, रुकना पड़ता है। योग इन इंद्रियों के रोकने का ही उपाय है। इंद्रियों का अनुगमन संसार में

पहुंचा देता है, इंद्रियों के रोकने से या उनसे प्रतिक्रमण करने से अर्थात्, उनसे वापस लौटने से व्यक्ति स्वयं में पहुंच जाता है। वस्तुतः इंद्रिय निरोध "स्वरूप" की प्रतिष्ठा का ही उपाय है और सारी साधना इंद्रिय निरोध की ही साधना है। इसका यह अर्थ नहीं है कि शरीर को नाना कष्ट दिए जायें या इन्द्रियों को ही नष्ट कर दिया जाये। आंख फोड लेने से रूप का दिखाई देना बन्द नहीं हो जाता अपितु वह मन में और अधिक गहराई से अंकित हो जाता है। इन्द्रिय – निरोध का साधक आंखो के होते हुए भी आंखों को जो दिखाई दे रहा है उसके साथ अपना पूर्ण तादात्म्य नहीं होने देता, वह दृश्य को कोई महत्व नहीं देता। वह तो जो द्रष्टा है अर्थात जो देख रहा है उसी को स्मरण रखता है। भोजन करते समय भी जिसका स्वाद आ रहा है, वह उसके लिए गौण है किन्तु जिसको स्वाद आ रहा है वही उसके लिए महत्वपूर्ण है। जीवन की समस्त क्रियाओं में वह उस चैतन्य को स्मरण रखता है जिसके आसपास ये क्रियायें घटित होती हैं और इसके कारण इन क्रियाओं का बोध होता है। इसके निरन्तर स्मरण को ही महावीर ने कहा है कि — "आयुमन, विवेक से उठें, विवेक से बैठें, विवेक से सोयें, विवेक से भोजन करें। "जो व्यक्ति होशपूर्वक अपनी सारी क्रियायें करेगा, इन्द्रियों के सारे सम्बन्धों में जो अपनी चेतना (Awareness) को जागृत रखेगा, निरन्तर उसी का स्मरण करेगा जो भीतर बैठा है, उसकी दष्टि में क्रमशः परिवर्तन होने लगेगा। तब उसे रूप की जगह वह दिखाई देगा जो रूप का देखनेवाला है और सारी क्रियाओं में उसे कर्ता का अनुभव होगा। इस प्रकार के निरन्तर स्मरण से, चौबीस घण्टे की जागरुक साधना के माध्यम से व्यक्ति इन्द्रियों के उपयोग के बावजूद इन्द्रियों से मुक्त भी हो जाता है। तब इन्द्रियों का निरोध होता है, और उनका अन्तर्गमन होता है। इन्द्रियों के नष्ट करने से नहीं अपितु उन्हें दृश्य पर से मुक्त कर देने से दृष्टा का साक्षात आरम्भ हो जाता है। इन्द्रियों से मुक्त होकर ही व्यक्ति स्वयं को जानता है क्योंकि अतीन्द्रीय स्थिति में ही आत्मा का अनुभव होता है। इन्द्रियां आत्मा का अनुभव करने में असमर्थ हैं। वे केवल पदार्थ को ही जान सकती हैं। समस्त विज्ञान इन्हीं इन्द्रियों की खोज पर निर्भर है। अतः जगत में केवल पदार्थ ही दिखाई देता है, परमात्मा नहीं। जो व्यक्ति स्मरण पूर्वक अपनी इन्द्रियों को दृश्य (object) से मुक्त करने की साधना करता है एक दिन निश्चित ही उसके ही भीतर विस्फोट होगा और तब वह उसका अनुभव कर सकेगा "जो है"। "जो है" के बारे में कोई दूसरा व्यक्ति, कोई तीर्थंकर, कोई अवतार या शास्त्र न बता सकता है न अनुभव करा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपना मार्ग स्वचेष्टा से और स्वसाधना से पूरा करना पड़ता है।

धार्मिक साधना में महावीर की सबसे महत्वपूर्ण क्रान्ति उनका यह मत है कि कोई ऐसा परमात्मा नहीं है कि जिसकी स्तुति सत्य तक या अपने तक पहुंचा दे। उनकी दृष्टि में परमात्मा का आविष्कार मनुष्य के आलस्य का आविष्कार है, स्तुतियां, प्रार्थना और भक्ति का आविष्कार हमारे प्रमाद और आलस्य का परिणाम है। चूंकि हम स्वयं कुछ करने से बचना चाहते हैं इसीलिए स्तुति करके निपट लेते हैं और यह सोचकर सन्तुष्ट हो जाते हैं कि प्रभु सब कर लेगा। परन्तु यह नहीं जानते कि जो स्वयं कुछ नहीं करना चाहता उसके लिए परमात्मा भी कुछ नहीं कर सकता। जीवन में जो कुछ भी महत्वपूर्ण है उसे कोई किसी को नहीं दे सकता, उसे तो स्वयं ही प्राप्त करना पड़ता है। जीवन में जो भी सार्थक है उसे न तो दिया जा सकता है न किसी से लिया जा सकता है। प्रेम, ज्ञान, आत्मानुभूति को तो सतत एकाकी चेष्टा से अपने भीतर खोजकर उपलब्ध करना होता है। वास्तव में धर्म अत्यन्त वैयक्तिक है। धर्म का सम्बन्ध समूह से नहीं अपितु व्यक्ति से है। धर्म के मार्ग पर व्यक्ति को अकेले ही चलना पड़ता है, वहां न उसका कोई संगी होता है न साथी। यूनान के विचारक प्लोटिनस (Plotinus) ने इसकी ओर इन शब्दों में संकेत किया है, "Flight of the Alone to the Alone" अर्थात अकेले की अकेले तक उड़ान। अकेले होने पर ही व्यक्ति अपने भीतर प्रवेश कर सकता है। अकेले होने का मन ही समाधि है। जब न कोई मंत्र हो न तंत्र, न कोई विचार हो न कोई रूप अर्थात जब इन्द्रियों से कुछ भी उपलब्ध न हो तब केवल मात्र अपनी सत्ता ही रह जाती है तब एक क्रान्ति होती है, एक विस्फोट होता है, तब उत्ताप का वह चरम बिन्दु उपलब्ध होता है जहां पर व्यक्ति मनुष्य नहीं रहता, वह परमात्मा से युक्त हो जाता है। वह संयोग ही व्यक्ति को प्रेम, शान्ति और आनन्दानुभूति से कृतार्थ कर देता है। इस आत्म-अनुभव के बाद ही जीवन में अहिंसा, सत्य और ब्रह्मचर्य के फूल अपने आप खिल उठते हैं। व्यक्ति की अहंस्थिति बीज है और ब्रह्म स्थिति है उस बीज का वृक्ष में परिणत हो जाना। जो व्यक्ति में अप्रकट है वही पूर्ण विकसित हो ब्रह्म में प्रकट हो जाता है। धर्म इस अभिव्यक्ति का सेतु है। धार्मिक हुए बिना कोई सन्तुष्टि को उपलब्ध नहीं होता क्योंकि धर्म के बिना स्वयं को ही उपलब्ध होना असंभव है।

★

जिन खोजा तिन पाइयां

(प्रश्नोतर)

संकलन : श्री श्याम सोनी, एम. ए.

१. प्रश्न--धर्म का समाज के साथ क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर--धर्म की साधना वैयक्तिक है। साधना का अर्थ ही है स्वयं को जानना। यह बिल्कुल एकाकी मार्ग है जिसे अकेले ही तय करना पड़ता है और इसमें किसी दूसरे का सहयोग नहीं मिल सकता। अपने भीतर जाने का यह निपट अकेला रास्ता है, अर्थात धर्म की साधना एकांत में, अकेले और स्वयं की जाती है, किन्तु इसका फल सामाजिक होता है। आत्मा अवश्य वैयक्तिक है किन्तु आचरण वैयक्तिक नहीं है, क्योंकि आचरण का आरंभ वहीं होता हैं जहां व्यक्ति दूसरों से संबंधित होता है, दूसरों के सम्पर्क में आकर जो उसका व्यवहार होता है वही आचरण है। अतः आचरण सामूहिक है। जब व्यक्ति को आत्मज्ञान होता है तो उसके आचरण में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हो जाता है। अज्ञानावस्था में आचरण सदा स्वार्थ पर आधारित रहता है और ज्ञानावस्था में आचरण में स्वार्थ का लेशमात्र भी नहीं रहता। यूं तो धर्म का किसी समाज या किसी राष्ट्र से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है, किन्तु परोक्षरूप में आचरण के माध्यम से समाज और राष्ट्र से इसका सम्बन्ध हो ही जाता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि धर्म की साधना शाश्वत वैयक्तिक है किन्तु उससे उत्पन्न हुआ फल सामूहिक है, सामाजिक है। साधना करने के लिए साधक को एकान्त में रहना पड़ता है, किन्तु सिद्धि प्राप्त हो जाने पर उसे समाज में वापस आना पड़ता है। साधना करने के लिए महावीर को वन में जाना पड़ा किन्तु सिद्ध हो जाने के बाद वे वन में ही क्यों न रहे ? मुहम्मद को भी साधना के

लिए पहाड़ पर जाना पड़ा, किन्तु आत्मज्ञान के बाद वे वहां से वापस आ गए। आत्मा की उपलब्धि से जब आनन्द प्राप्त होता है तो वह व्यक्ति को आत्म-केन्द्रित नहीं रहने देता, वह बाहर की ओर प्रवाहित होना चाहता है। दूसरों को आनन्द प्रदान करने की इच्छा के कारण ही वे संसार के सम्पर्क में आते हैं और उनका धर्म उन्हें लोक-सेवा की ओर अग्रसर करता है। यहां यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि सेवा धर्म नहीं है किन्तु धर्म अवश्य सेवा है। समाज-कल्याण के विविध-कार्यों से व्यक्ति सज्जन बन जाता है, लोकप्रिय बन जाता है जिससे उसकी सूक्ष्म अहंभावना की तृप्ति होती है। परन्तु समाज सेवा द्वारा धर्म की उपलब्धि नहीं हो सकती। धर्म की साधना का यह अवश्य स्वाभाविक परिणाम है कि जीवन सेवा में परिणत हो जाता है। अतः धर्म की सिद्धि प्राथमिक है, सेवा उसका परिणाम है। प्राचीनकाल में किसी भी धार्मिक पुरुष ने यह नहीं कहा कि सेवा धर्म है। इधर कुछ समय से ही यह विचार संसार में प्रचलित हुआ है कि समाज सेवा धर्म है। समाज सुधार के लिए धर्म के नाम का शोषण किया जा रहा है। यह वृत्ति बुरी नहीं, किन्तु अच्छा होता यदि इसे धर्म से अलग ही रखा जाता। मेरी धारणा तो यह है कि जो धर्म में प्रविष्ट हो जाता है वह पूर्णतः सामाजिक हो जाता है, क्योंकि इससे व्यक्ति को समाज से अलग रखने वाला अहंकार बिल्कुल नष्ट हो जाता है। वह निरन्तर निरहंकार हो जाता है और निरहंकारिता की वह स्थिति ही प्रेम और सेवा है। जीवन को विषाक्त करनेवाला अहंकार ही है। जब वह दूर हो जाता है तो जीवन में अलौकिक शान्ति आ जाती है। धर्म के सधने से मानवता के सब श्रेष्ठ गुण अपने आप ही सध जाते हैं। वेश्या-उद्धार, विधवा विवाह, अंधे और निर्धन बच्चों की शिक्षा आदि सामाजिक-कल्याण कार्य अवश्य प्रशंसनीय हैं, परन्तु इनको लोकधर्म ही मानना चाहिए, ये धर्म नहीं हैं। धर्म तो अलग क्रिया है। वह अपने भीतर जाने का एकाकी रास्ता है। वह जिस दिन सध जायेगा उस दिन सारे जगत का शुभ उस व्यक्ति के भीतर स्वतः ही आ जायेगा। तब सब अशुभ विसर्जित हो जाएगा। धार्मिक होकर व्यक्ति सामाजिक ही नहीं अपितु जागतिक बन जाता है अर्थात समस्त जगत से एक हो जाता है।

२. प्रश्न--'अपनी ही आत्मा को पाने की क्या आवश्यकता है? जो अपना ही है उसे क्या पाना?'

उत्तर--यह ठीक है आत्मा अपनी है और अपने पास है किन्तु क्या आपको ऐसा लगता है कि मेरे भीतर आत्मा है? आपको तो अपनी देह का ही

बोध है और अधिक से अधिक अपने मन का। आत्मा चूंकि अपनी है इसलिए दिखाई देती है, बहुत पास की चीजें दिखाई नहीं पड़ती। क्योंकि आत्मा अपनी है इसी लिए हम उसे भूल जाते हैं। वह तो २४ घंटे हमारे साथ है, सोते, जागते, हर क्षण हमारे साथ है। जब हमारा जन्म नहीं हुआ था तब भी थी, जब मरेंगे तब भी होगी। आश्चर्य तो यह कि परिवर्तनशील हर वस्तु हमें दिखाई देती है किन्तु अपरिवर्तनशील आत्मा हमें दिखाई नहीं देती। असल में बार-बार हमें उसी का ध्यान होता है जो हमें मिला नहीं, जो मिल जाता है उसे हम भूल जाते हैं। सारी वासना, समस्त कामना यही सिद्ध करती हैं कि जो हमें मिल जाता है वह हमें विस्मृत हो जाता है। आत्मा इसीलिए उपलब्ध होकर भी अनुपलब्ध है। चूंकि वह चिरन्तन उपलब्ध है, चूंकि उसे पाना नहीं है, इसलिए उसका स्मरण नहीं है। इसलिए साधक को एक अबूझ पहेली में से गुजरना पड़ता है। उसे उसको पुनः प्राप्त करना होता है जिसे उसने कभी खोया नहीं है। उसे उस भूमि पर पैर रखना होता है जिस भूमि पर उसने पैर कभी हटाये ही नहीं। उसके प्रति आंख खोलनी होती है जो निरन्तर आँख में था। इसीलए उसका दिखाई देना बन्द हो जाता है।

जिस दिन आपको पता लगेगा कि मैं आत्मा हूं उस दिन प्राप्ति हो जायेगी। अभी तो आपके लिए आत्मा नहीं है, क्योंकि आपको उसका अनुभव नहीं है। जिस दिन यह अनुभव होगा उस दिन पाने जैसा और कुछ नहीं रह जायेगा।

३. प्रश्न--आत्मानुभव क्या है?

उत्तर--उसे जाना जा सकता है, कहा नहीं जा सकता, और जान लेने के बाद ही उसके शाब्दिक संकेत समझ में आ सकेंगे जिन्होंने इसके बारे में कुछ कहा है। यदि व्यक्ति को आत्मानुभव नहीं हुआ है, तो वह उन संकेतों के तात्पर्य को समझने में असमर्थ होगा, और वह केवल उनके शब्दों तक ही सीमित रह जायेगा। क्योंकि आत्मानुभव को शब्दों द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता, उसके लिए तो सब शब्द अपर्याप्त हैं। कोई भी शब्द उसे पूरी तरह से प्रकट नहीं कर सकता। इसलिए जिन्हें आत्मानुभव हुआ है उन्होने यही कहा है कि इस विषय के बारे में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। परन्तु इसकी ओर संकेत करने के लिए इन्हीं शब्दों से काम चलाना पड़ता है। इसको "आत्म-दर्शन" कहा गया है। किन्तु "स्व" का दर्शन "स्व" कैसे कर सकता है? दर्शन में तो दो की आवश्यकता है—— एक जिसका दर्शन हो और दूसरा जिसको दर्शन हो। किन्तु आत्मदर्शन में तो एक ही होता है जो देखता है, दूसरा कोई नहीं। अतः दर्शन

शब्द ठीक नहीं। वस्तुतः सब शब्द गलत ह क्योंकि वे दो के लिए बने हैं। "आत्मज्ञान" शब्द भी ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञान के लिए भी तो दो होने चाहिए–जिसका ज्ञान हो और जिसको ज्ञान हो। हमारे सब शब्द दो के लिए ही बनें हैं क्योंकि हमारा सारा संसार दो से बना है। इस "दो" के लिए जो भाषा है वह उस "आत्मानुभव" के लिए अपर्याप्त है क्योंकि उस समय स्वयं की सत्ता अकेली रह जाती है। तब वहां केवल दृष्टा मात्र रह जाता है। किन्तु दृष्टा को जब कुछ दिखाई नहीं देता, जब वह अकेला शेष रह जाता है उसके देखने की क्षमता, उसके अनुभव की क्षमता, उसके जानने की या बोध की क्षमता तो वर्तमान रहती है और वह क्षमता जब किसी पर को नहीं जानती, तो उस क्षण उसकी आन्तरिक स्थिति उस दीपक की भांति होती है, जो अकेला जलता है। दीपक के प्रकाश से उसके आसपास की वस्तुएं दिखाई देने लगती हैं किन्तु यदि वे वस्तुएं न भी रहें तो भी दीपक तो जलता ही रहेगा, किन्तु वह दूसरों को प्रकाशित न करके स्वयं प्रकाशित होता रहेगा। ठीक इसी प्रकार आत्मा जब किसी अन्य को नहीं जानती तो वह केवल अपने को ही जानती है, और वह "स्व" पर प्रकाशित होती है। जब कुछ भी जानने को शेष नहीं रह जाता तो जानने की शुद्ध शक्तिमात्र शेष रह जाती है। जो आत्मा दूसरों को जानती है, यह असंभव है कि वह अपने को न जान सके। उस क्षण ज्ञाता और ज्ञेय दोनों एक हो जाते हैं, देखनेवाला और दिखाई देनेवाला एक ही होता है। उस घड़ी में कोई शब्द नहीं केवल साक्षात है। इसीलिए कहा गया है कि ब्रह्म को जानना ब्रह्म हो जाना है, बिना हुए उसे जाना नहीं जा सकता।

इस अलौकिक अनुभव को कोई भी शब्द व्यक्त नहीं कर सकता। समस्त धर्मों में उसकी ओर संकेत करने के लिए जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है वे सब झूठे हैं, क्योंकि वे दो के लिए हैं। संकेत को अवश्य समझा जा सकता है, किन्तु जिस शब्द द्वारा संकेत किया गया है यदि उसे पकड़ लिया जाये तो कुछ भी समझ में नहीं आयेगा। शब्द को छोड़ कर इशारे को समझना पड़ता है। इसीलिए सारा धर्म प्रतिकारात्मक (Symbolic) है। उसकी बात कथाओं और दृष्टान्तों (Parables) में कही गई है।

४. प्रश्न--क्या भगवान को पाना कठिन है ?

उत्तर–भगवान से मिलने की क्षमता सब व्यक्तियों में एक समान ही होती है, भेद तो केवल प्यास का है। सत्य को पाना कठिन नहीं है, किन्तु सत्य का मार्ग तब कठिन होता है जब हम अपने परिवार के सब सम्बन्धों को परमात्मा

पर आरोपित करने लगते हैं। कोई भगवान को पति के रूप में पाना चाहता है, कोई प्रियतमा के रूप में, कोई मां के रूप में तो कोई पुत्र के रूप में। किन्तु भगवान की प्राप्ति के लिए तो संग के समस्त भावों को छोड़कर असंग होना पड़ता है। जब हमारे मन से सारे संबंधों का भाव विलीन हो जाता है तब हम असंग हो जाते हैं, तभी भगवान की उपलब्धि होती है।

परमात्मा तो अपना स्वरूप है, अतः उसे प्राप्त करना अत्यन्त सरल है। इस संसार को पाना कठिन है क्योंकि "पर" को पाना असंभव है। धनी को धन प्राप्ति का भ्रम हो जाता है किन्तु मृत्यु उसके इस भ्रम को दूर कर देती है। सिकन्दर और नेपोलियन ने बड़े- बड़े राज्यों को प्राप्त किया था किन्तु मृत्यु ने बता दिया कि यह प्राप्ति क्षणिक है। आजतक यदि किसी ने सचमुच कुछ पाया है तो भगवान को ही पाया है, पाने योग्य दूसरा कुछ तो है ही नहीं। हां, अधिकांश पंडित और साधु यही कहते है कि भगवान को पाना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि यदि वे कह दें कि सरल है तो लोग पंडितों को, साधुओं को आधार ही न दें।

तिब्बत में एक साधु था जो नब्बे वर्ष की आयु में मरा। उसके पास हजारों लोग शिष्य बनने के लिए आते किन्तु वह सदा एक ही उत्तर देता कि आप अभी अपात्र हैं अतः इस योग्य नहीं हैं। जीवनभर उसे कोई पवित्र व्यक्ति न मिला। मरने के तीन दिन पहले उसने अपने पास आए हुए एक युवक से कहा की पहाड़ी के नीचे जाकर उन सबको बुला लाओ जो मेरे शिष्य बनना चाहते हैं। युवक जब गांव में पहुंचा तो बहुत कम लोग ऐसे थे जो काम में व्यस्त नहीं थे, और वे थे तो बिमार थे या बेकार थे। अतः वे साधु के पास चले गए। जब साधु ने उनसे पूछा कि वे भगवान को क्यों प्राप्त करना चाहते हैं तो एक ने कहा मेरे पास आजकल कोई काम नहीं है अतः सोचा कि भगवान को ही जान लूं। दूसरे ने यह उत्तर दिया कि आजकल बरसात के समय में बाहर तो जा नहीं सकता इसलिए मन में भगवान को प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न हो गई। सबने इसी प्रकार के उत्तर दिये जिससे यह स्पष्ट था कि उनमें से कोई भी शिष्य बनने के योग्य नहीं था। किन्तु आश्चर्य तो यह कि उस साधु ने उन सबको शिष्य बना लिया। युवक ने जब इसका कारण पूछा तो उसने कहा कि "इससे पहले मैं देने में समर्थ नहीं था अतः सबको अपात्र कह कर लौटा देता था। अब मेरे पास देने को है इसलिए कैसा भी पात्र हो वह अब मेरे लिए सुपात्र है, क्योंकि अब तो मैं जिस किसी को दे दूंगा वही सुपात्र हो जाएगा।"

जो लोग सत्य को स्वयं नहीं जानना चाहते और केवल शास्त्रों की ही जानकारी तक अपने को सीमित रखते हैं, वे अपने बचने का उपाय यह कह कर करते हैं कि भगवान को पाना बहुत कठिन हैं। परन्तु सच तो यह है कि सत्य को पाना कठिन नहीं हैं। वास्तव में हम स्वयं बहुत कठिन है अर्थात जटिल हैं, भगवान तो सरल हैं। लेकिन हम स्वयं बहुत उलझे हुए हैं। सत्य को पाने में समय नहीं लगता, समय लगता है अपने व्यक्तित्व की आन्तरिक गुत्थियों को सुलझाने में। इन ग्रन्थियों को खोलकर जिस दिन ग्रन्थिरहित हो जाते हैं उस दिन सत्य की प्राप्ति हो जाती है। पानी जब गरम हो जाता है तो भाप तुरन्त बन जाती है। कठिनाई भाप बनने में नहीं है, कठिनाई पानी के गरम होने में है, उसके गरम होने में बहुत देर लगती है। इसी प्रकार कठिनाई भगवान की प्राप्ति में नहीं है कठिनाई तो अपनी जटिलता में है जिसको हम स्वयं बनाये हुए हैं और जिसे दूर करने में बहुत देर लग जाती है।

५. प्रश्न--"क्या शास्त्राध्ययन द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त हो सकता है?"

उत्तर–शास्त्रों के प्रति मेरी जो प्रगाढ़ श्रद्धा है उसके कारण ही मुझे यह बार-बार कहना पड़ता है कि आप शास्त्रों के प्रति नहीं अपितु अपने प्रति श्रद्धा रखें, तब धीरे-धीरे आप उस चेतना में पहुंच सकेंगे जहां शास्त्रों का जन्म होता है। यह भी सच है कि साधनापथ पर चलनेवाले महात्मा आध्यात्मिक क्षेत्र में जो चरण चिन्ह छोड़ जाते हैं उसको पहिचानने में शास्त्र सहायक होते हैं, किन्तु केवल मात्र शास्त्राध्ययन द्वारा हम उन चरण-चिन्हों को नहीं पहिचान सकते। यह तो तभी संभव हो सकता है जब आप अपने भीतर प्रवेश कर जावें अर्थात जब आपको अच्छी तरह से स्वबोध हो जाए।

शास्त्रों के निर्जीव शब्द प्रायः जीवित आध्यात्मिक व्यक्ति के माध्यम से सजीव हो जाते हैं। इसीलिए शास्त्र जो हमें नहीं समझा पाते वह उस व्यक्ति के सान्निध्य से प्रकट हो जाता है। ऐसे धार्मिक लोग पूर्वपरंपरा का पुनरुद्धार करते हैं और जो सत्य लोगों के लिए धूमिल हो गया है उसे अपने जीवन से स्पष्ट कर देते हैं। इसीलिए उनकी वाणी जो नहीं समझा पाती वह उनका सान्निध्य समझा देता है।

ज्ञान की उपलब्धि के बाद जब बुद्ध काशी गए तो उस समय वे एक अनजान एवं अपरिचित भिक्षुक थे जिसको कोई नहीं जानता था। नगर के बाहर एक पेड़ के नीचे वे ठहर गए। शाम के समय जब काशीनरेश चिन्तित एवं अशांत दशा में रथ पर बाहर घूमने गए तो उस समय बुद्ध पेड़ के सहारे बैठे हुए थे

और अस्त होते हुए सूर्य की रश्मियों से उनका शान्त मुख आलोकित हो रहा था। काशीनरेश उनकी आंखों के दिव्य प्रकाश और तेजस्वी मुखाकृति से बहुत प्रभावित हुए। जिस प्रकार धूप से तपे हुए व्यक्ति के कदम अनायास ही बरगद के पेड़ की ओर बढ़ जाते हैं उसी प्रकार वे भी रथ रोक कर बुद्ध के पास गए और उनसे कहा कि "मेरे पास धन-वैभव, सुख–सम्पत्ति, सब कुछ है किन्तु फिर भी मैं चिन्ता से व्याकुल हूं, मुझे जीवन व्यर्थ मालूम होता है और मैं आत्मघात करना चाहता हूं। तुम्हारे पास तो कुछ भी नहीं है किन्तु फिर भी तुम कितनी शान्ति से बैठे हुए हो! ऐसा लगता है कि यदि तुम्हें अनन्त जन्मों तक इसी तरह बैठना पड़े तो तुम ऐसे ही आनन्द से बैठे रहोगे। मैं केवल इतना ही पूछना चाहता हूं कि यह कैसे संभव हुआ?" बुद्ध ने मुस्करा कर उत्तर दिया कि "एक दिन मेरे पास भी सब कुछ था किन्तु वह कुछ भी नहीं था। आज मेरे बाहर कुछ नहीं है किन्तु अपने भीतर कुछ अमूल्य पा लिया है। कभी मेरी भी तुम्हारे जैसी दशा थी, अब इस स्थिति में हूं। यदि तुम चाहो तो तुम्हें भी यही अवस्था प्राप्त हो सकती है।" नरेश को ऐसा लगा कि बुद्ध जो कह रहे थे उसके वे स्वयं साक्षी थे, उनके शब्दों पर अविश्वास नहीं किया जा सकता था। अतः पूर्ण विश्वास के साथ उसने अपना मुकुट और अपने कपड़े उतारकर सारथी को दे दिये और उससे कहा कि घर जाकर कह देना कि मैं किसी बड़ी सम्पत्ति की खोज में निकल गया हूं। काशीनरेश को बुद्ध ने अपने पास नहीं बुलाया था। वह स्वयं ही उनकी ओर आकर्षित हुआ क्योंकि उसे उनकी महानता का आभास मिला। इससे यह सिद्ध होता है कि जिन शंकाओं का समाधान शास्त्रों के पढ़ने से नहीं मिलता वह सत्पुरूष के सान्निध्य से प्राप्त हो जाता है। जब किसी व्यक्ति को सत्य की उपलब्धि हो जाती है तो उसके जीवन की प्रेरणा से जो लोग उसके निकट आकर उसके पथ-प्रदर्शन में चलते हैं उनको अवश्य सच्चे धर्म की उपलब्धि होती है, किन्तु जो केवल उसकी वाणी के सहारे ही चलने का प्रयास करते हैं उनका धर्म सत्य पर आधारित होते हुए भी प्राणहीन हो जाता है, क्योंकि उसमें उनकी कोई सत्यानुभूति नहीं होती। उस परम सत्य की अनुभूति के लिए सान्निध्य अत्यन्त आवश्यक है।

६. प्रश्न--"यदि आत्मानुभूति कठिन नहीं है तो सामान्य व्यक्ति इससे वंचित क्यों है?"

उत्तर–इसमें कोई सन्देह नहीं कि आत्मा की अनुभूति या आत्मज्ञान की प्राप्ति सरल है। यहां सरलता से तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति इस दिशा की ओर

चलना आरंभ कर देता है वह अवश्य अपने गन्तव्य पर पहुंच जाता है। किन्तु यदि कोई उस पथ पर चलना ही न चाहे तो पाने की सरल संभावना के होते हुए भी उसको उस सत्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। यदि कुछ लोगों को आत्मा की प्राप्ति हुई है तो कोई कारण नहीं है कि दूसरों को इसकी प्राप्ति न हो सके। सत्य तो समान रूप से सबको उपलब्ध हो सकता है। विभिन्न व्यक्तियों की शक्ति में और सामर्थ्य में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। अन्तर है केवल उनकी इच्छा में। जैसे चन्द्र तो आकाश में सबके लिए उदय होता है किन्तु ऐसे कितने लोग हैं जो उसके सौन्दर्य पर मुग्ध होते हैं? ऐसे कितने लोग हैं जिनके पास उसकी ओर देखने का समय होता है? इसी प्रकार आत्मा को जानने की इच्छा सबमें नहीं होती। अधिकांश मनुष्यों के मन में आत्मा के बारे में जो थोड़ी सी उत्सुकता जागृत होती है वह केवल मृत्यु के भय के कारण। मत्यु से बचने के लिए वे आत्मज्ञान की शरण लेना चाहते हैं। मत्यु के डर से ही उनमें आत्मा की चाह पैदा होती है जो वास्तविक नहीं, झूठी है। आत्मा को तो वही जान सकेगा जो मरने को तैयार है।

प्रायः लोगों में आत्मा को जानने की जो आकांक्षा है वह वस्तुतः मृत्यु से पलायन है, और इस बात का लोभ है कि हमें ऐसी संपत्ति मिल जाये जो मृत्यु के बाद भी हमारे साथ रह सके। यदि लोगों से यह कह दिया जाये कि शरीर नश्वर नहीं, अमर है, तो आत्मा को जानने की सारी उत्सुकता समाप्त हो जाये।

आत्मा को जानने की प्यास तब पैदा होती जब मनुष्य को इसका बोध होता है कि जन्म से मृत्यु तक का जीवन व्यर्थ है और मेरे चारों ओर जो कुछ है वह नितान्त अर्थहीन है, उसमें कहीं कोई सार्थकता दिखाई नहीं देती। व्यर्थता की उस गहन अनुभूति में जब संसार में चारों ओर दुख ही दुख दिखाई पड़ता है, तब अपने भीतर यह भावना पैदा होती है कि या तो इस व्यर्थ जीवन को समाप्त कर देना चाहिए या उसको जान लेना चाहिए जिसमें कोई सार्थकता है। जो व्यक्ति जीवन की व्यर्थता से घबड़ाकर आत्मघात की सीमा तक पहुंच जाता है वही आत्मसाधना में लग सकता है। जीवन की व्यर्थता की चरमसीमा की अनुभूति के बिन्दु पर ही उसे लगता है कि अपने भीतर जो है यदि उसमें कोई अर्थ है तो उसे प्राप्त करना चाहिए, अन्यथा जीवन को ही समाप्त कर देना चाहिए। उस अर्थ की खोज ही उसे आत्म–साधना की ओर प्रेरित करती है। परन्तु अधिकांश लोग तो आत्मा को इसी लिए जानना चाहते हैं क्योंकि जीवन के प्रति उनका मोह है, और वे दीर्घायु होना चाहते हैं। तथ्य तो यह है

कि जब तक बाह्य जीवन के सुखों की आशा बनी रहती है तब तक आत्मा को जानने की प्यास पैदा नहीं होती। जिस दिन व्यक्ति की बाहर की धारणा खंडित हो जाती है, और उसे यह विश्वास हो जाता है कि सुख बाहर नहीं है, न इस जन्म में, न स्वर्ग में, न मोक्ष में, उस दिन उसके भीतर शान्त होने वाली तीव्र प्यास उत्पन्न हो जाती है। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि आत्मा को पाना सरल है, किन्तु आत्मा को चाहना कठिन है। आत्मोपलब्धि तो जल्दी हो जाती है किन्तु आत्मा की चाह तो जन्म – जन्मान्तर के बाद आती है। यदि कोई परिपूर्ण प्रगाढ़ता से आत्मा को जानना चाहे तो उसी क्षण जान सकता है। इसी लिए महावीर ने और बुद्ध ने कहा है कि उसका पाना सरल और स्वाभाविक है। इसीलिए ईसा ने कहा है कि प्रभु का राज्य बिल्कुल हाथ के निकट है, बढाओ और पा लो। मनुष्य को पानी के निकट पहुंचाकर यह तो बताया जा सकता है कि यह पानी है, इसे पी लो। किन्तु उसके भीतर पानी की प्यास को कोई दूसरा उत्पन्न नहीं कर सकता। प्यास जितनी तीव्र होती है पानी उतना ही निकट होता है। यदि प्यास तीव्रतम है तो तृप्ति उसी क्षण हो सकती है।

७. प्रश्न--"आप ध्यान को आत्मोपलब्धि का कृत्रिम उपाय क्यों कहते है?"

उत्तर–आत्मा हमारा स्वरूप है। "स्वरूप" का अर्थ है कि उसके बिना हमारा अस्तित्व ही असंभव है। आत्मा के बिना हम न कभी थे, न हैं और न होंगे। यद्यपि उसको हमने कभी खोया नहीं। तथापि हमें उसके खो जाने का भ्रम हो गया है। ध्यान इस भ्रम को मिटाने में सहायक होता है। वस्तुतः ध्यान आत्मा को प्राप्त करने का उपाय नहीं, भ्रान्ति – विसर्जन का उपाय है। अगर ध्यान द्वारा ही आत्मा उपलब्ध होती तो ध्यान के मिट जाने पर वह भी खो जाती, और तब वह अपना स्वरूप या अपनी वस्तु न होकर पराई वस्तु होती।

ध्यान एक विधि है, विचार की कृत्रिमता को मिटाने का एक कृत्रिम उपाय है। जब न विचार रह जाता है न ध्यान, तब जो शेष रह जाता है उसका नाम समाधि है। वास्तव में चित्त की सम अवस्था का नाम ही समाधि है। समाधि के बाद ध्यान बिल्कुल अनावश्यक हो जाता है। जमीन से जब पानी निकालना होता है तो कुदाली से मिट्टी खोद - खोद कर हटानी पड़ती है और जब पानी प्राप्त हो जाता है तो कुदाली का कोई महत्व नहीं रहता, उसे एक ओर रख दिया जाता है। पानी तो वहां सदा वर्तमान था, किन्तु कुदाली उसको प्राप्त करने का माध्यम बनी। इसी प्रकार आत्मज्ञान के बाद ध्यान को भी छोड़ देना पड़ता है। छत के ऊपर पहुंचने के लिए सीढ़ियों का सहारा आवश्यक है। चढ़ते समय

जब दूसरी सीढ़ी पर पांव रखा जाता है तो पहली सीढ़ी को छोड़ दिया जाता है। यदि कोई — सीढ़ियों पर ही रुक जाये या सीढ़ी पर ही न चढ़े तो वह छत पर नहीं पहुंच सकता। छत पर पहुंचने के लिए सीढ़ी को छोड़ना ही पड़ेगा।

ध्यान वास्तविक नहीं है। वह लक्ष्य नहीं है, केवल माध्यम है, अतः उसे उतना ही महत्व देना चाहिए। यदि माध्यम को ही सब कुछ समझ कर पकड़ लिया तो लक्ष्य तक नहीं पहुंच सकेंगे। इसकी सार्थकता तो केवल यही है कि आरंभ में इसका सहारा लें और फिर बाद में इसे छोड़ दें। परन्तु कुछ लोग इस ध्यान रूपी माध्यम को ऐसे पकड़ लेते हैं जैसे कि उनके प्राण उसी में अटके हों। वास्तविक लक्ष्य तो दृष्टि से ओझल हो जाता है, और वे अपना समस्त जीवन ध्यान में ही बिता देते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ध्यान से हमारी यह भ्रान्ति दूर हो जाती है कि हम केवल मात्र शरीर हैं। किन्तु भ्रान्ति को भ्रान्ति से ही दूर किया जा सकता है। यदि किसी स्वस्थ व्यक्ति को बीमार होने का वहम हो जाये तो असली दवा से वह ठीक नहीं होगा, झूठी दवा से ही उसे लाभ होगा।

कृत्रिम रूप से आयोजित कोई भी वस्तु हमारा स्वभाव नहीं हो सकती। ध्यान केवल माध्यम है, वह हमारा स्वभाव नहीं है। वह कृत्रिम है, वह सत्य को नहीं दे रहा, केवल दूसरी भ्रान्ति को तोड़ रहा है। विवेकानन्द जी जब अमेरिका में थे तो किसी ने उनसे यह कहा था कि ध्यान एक प्रकार का हिप्नोटिज्म है। श्री विवेकानंद ने कहा था कि इसे हिप्नोसिस नहीं अपितु डि– हिप्नोसिस कहना चाहिए, क्योंकि हम एक प्रकार के सम्मोहन में है, अतः उसे दूर करने के लिए ध्यान रूपी सम्मोहन का प्रयोग करना पड़ता है। जब सम्मोहन को सम्मोहन काट देगा तब जो शेष रह जायेगा वही सत्य है। वही हमारी सत्ता है, वही हमारी वास्तविकता है। माध्यम को ही पकड़ कर जीवन बिता देने वाले लोगों की ओर संकेत करते हुए बुद्ध ने कहा है कि कुछ ऐसे नासमझ हैं जो, जो नाव पर बैठकर नदी पार करते हैं, फिर नाव को लेकर बाजार में घूमते हैं, क्योंकि उसने उन्हें नदी पार करवाई। इसी प्रकार अनेक धार्मिक लोग धर्म को नाव समझकर उसे सिर का बोझ बना लेते हैं। किन्तु जिस दिन धर्म छूट जाय उसी दिन यह समझ लेना चाहिए कि नदी पार हो गई और नाव की भी कोई आवश्यकता नहीं रही।

साधना भी तो नाव या कुदाली या सीढ़ी की तरह है। क्योंकि लक्ष्यप्राप्ति के बाद यह अनावश्यक हो जाती हैं। इसीलिए मैं ध्यान को कृत्रिम कहता हूं। यदि उसी को वास्तविक समझ लिया जायेगा तो उसे छोड़ा नहीं जायेगा।

साधना की उपयोगिता केवल इतनी है कि व्यक्ति को जो कृत्रिमता घेरे हुए है उसे वह काट दें। जिस दिन वह दूर हो जाएगी उस दिन साधना भी उतनी ही आवश्यक ना हो जाएगी जितनी कि कृत्रिमता। जब कृत्रिम माध्यम ही वास्तविक मालूम होने लगे तो वह पथ की बाधा के समान हो जाएगा। रास्ते पर चलते है मंजिल पर पहुंचने के लिए। मंजिल पर पहुंच कर फिर रास्ते की जरूरत ही नहीं रहती। इसीलिए मैं सब रास्तों को कृत्रिम मानता हूं। अज्ञान में जो भी किया जाएगा वह कृत्रिम ही होगा। वास्तविकता की उपलब्धि पर ही कृत्रिमता का पता लग सकता है। जब अज्ञान दूर हो जाता है तब मालूम होता है कि ध्यान, साधना, तपश्चर्या आदि सब कृत्रिमताएं ही थीं। "कृत्रिम" शब्द का अर्थ बेकार या व्यर्थ नहीं है। ध्यान को कृत्रिम माध्यम तो कहा जा सकता है किन्तु बेकार या व्यर्थ नहीं। उसके सहारे के बिना अध्यात्म - पथ पर आगे नहीं बढ़ सकते। जब अज्ञान दूर हो जाता है और आत्मानुभूति होती है तब इसे पकड़े रहने की आवश्यकता नहीं रहती। बच्चे को जब वर्णमाला सिखाई जाती है तो उसे सिखाया जाता है कि "ग" से गणेश होता है। जब वह "ग" को अच्छी तरह से पहिचानने लगता है तो वह "ग" से "गणेश" न पढ़कर केवल "ग" ही पढ़ता है। यदि "ग" को पहिचानने के बाद भी "गणेश" को पकड़े रहेगा तो निश्चय ही वह पुस्तक को नहीं पढ़ सकेगा। अतः जो कृत्रिम उपाय उसे वर्णमाला सिखाने में सहयोगी था वह उसके सीख जाने के बाद अवश्य ही छूट जाना चाहिए। लक्ष्य-प्राप्ति के बाद संकेतों की क्या आवश्यकता ? ध्यान को "कृत्रिम" कहने से मेरा अभिप्राय यही है कि उसे पकड़ने के बाद यह याद रखना है कि एक दिन इसे छोड़ देना है नहीं तो वही आपकी जकड़ बन जायेगा। उस परम तत्व की उपलब्धि के बाद तो सब कुछ छोड़ना पड़ता है।

जो हमें धारण किए हुए है वही धर्म है। जिसको हमने धारण किया है वह धर्म नहीं हो सकता। ध्यान, पूजा, भजन, कीर्तन आदि को व्यक्ति धारण करता है अतः इन्हें धर्म नहीं कहा जा सकता। जिस दिन हम अपने धारण किए हुए सब वस्त्रों को छोड़ देंगे उस दिन हमें उसका पता चलेगा जिसे हमने धारण नहीं किया जो निरन्तर हमें उपलब्ध रहा है और जो हमारा अपना स्वरूप है। ध्यान को भी धारण किया जाता है, साधना को भी और तपस्या को भी। जो कुछ भी धारण वह, केवल असत्य का विरोधी है। वे दोनों असत्य एक दूसरे को खंडित कर देते हैं और तब जो शेष रह जाता है वही सार्थक और वास्तविक है। उस वास्तविक का स्मरण बना रहे इसीलिए ध्यान को मैं कृत्रिम कहता हूं।

(अनुसंधान पृष्ठ ४८ से आगे)

एक पुरानी कथा है। विष्णु शिव से मिलने कैलाश आए थे। उनके वाहन है गरूड़। वे विष्णु को उतार द्वार पर बाहर ही रुके थे। तभी उनकी दृष्टि तोरण पर बैठे भय से कांपते एक कपोत पर पड़ी। उन्होंने उससे भय का कारण पूछा। वह कपोत रोने लगा और बोला : 'अभी अभी यमराज भीतर गये हैं, वे मुझे देख ठिठके, विस्मयपूर्वक मुझे निहारा और फिर मुस्कराकर गदा हिलाते हुए आगे बढ़ गये। उनकी यह भेद भरी हंसी मेरी मृत्यु की निश्चित सूचना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मेरा अंत निकट है।" और वह कपोत और जोर जोर से रोने लगा। गरूड़ ने कहा : "छिः छिः। तू व्यर्थ ही इतना भयातुर है। तू अभी युवा है। इसीलिए रोग से मरने की तेरी संभावना नहीं। रहा शत्रु का भय, सो आ मेरी पीठ पर बैठ। निमिष मात्र में मुझे यहां से करोड़ करोड़ योजन दूर लोकालोक पर्वत पर पहुंचाए देता हूं जहां तेरे किसी शत्रु के होने की कोई संभावना ही नहीं है।" यह आश्वासन पा कपोत की जान में जान आई। और निमिष मात्र में ही गरूड़ ने उसे ऐसी निर्जन उपत्यका में पहुंचा दिया जहां कि वह अजातशत्रु हो विचरण कर सकता था। किन्तु गरूड के लौटते ही उनकी भेंट द्वार से निकलते यमराज से हुई। यमराज की दृष्टि तोरण पर थोड़ी ही देर पहले बैठे कपाते को खोज रही थी। गरूड ने हंसकर कहा : 'महाराज, वह कपोत अब यहां नहीं है। वह तो करोड़ों योजन दूर लोकालोक पर्वत पर निर्भय हो विचरण कर रहा हैं। मैं उसे अभी वहां छोड़कर लौटा हूं' यह सुन यमराज खूब हंसने लगे और बोले : 'तो आपने उसे आखिर वहां पहुंचा ही दिया? मै यही सोच तो उसे यहां देख विस्मित हुआ था कि वह यहां कैसे ? उसे तो थोड़े ही क्षणों बाद लोकालोक पर्वत पर मृत्यु के मुंह में जाना है।'

एक युवक आये थे। वे संन्यासी होने की तैयारी में हैं। सब भांति तैयार होकर जल्दी ही वे संन्यास लेंगे। बहुत प्रसंन्न थे क्योंकि तैयारी करीब करीब पूरी ही होने आ रही है। उनकी बाते सुनी तो मैं हंसने लगा और उनसे कहा: 'संसार की तैयारियां मैंने सुनी थीं। यह संन्यास की तैयारी क्या बला है? क्या संन्यास के लिए भी कोई तैयारी और आयोजना करनी होती है? और ऐसा सुनियोजित संन्यास भी क्या संन्यास होगा? क्या वह भी संसारी मन का ही विस्तार नहीं है? संसार और संन्यास एक ही मन के आयाम नहीं है। संसारी

मन ही संन्यासी नहीं हो सकता है। संसार से संन्यास की ओर संपरिवर्तन चित्त की आमूल क्रांति के बिना नहीं हो सकता। वह आमूल क्रांति ही संन्यास है। संन्यास न तो वेष परिवर्तन है, न नाम परिवर्तन, न गृह परिवर्तन। वह तो है दृष्टी-परिवर्तन। वह तो है स्वयं के चित्त का समग्र परिवर्तन। उस क्रांति के लिए विचार की वे ही सरणियां काम नहीं देती है, जो कि संसार में सफल हैं। संसार का गणित उस क्रांति के लिए न केवल व्यर्थ है अपितु विघ्न भी है। स्वप्न की नियमावलियां जैसे जागरण में नहीं चलती हैं, वैसे ही संसार के सत्य संन्यास में सत्य नहीं रह जाते हैं। संन्यास संसार के स्वप्न से जागरण ही तो है।'

फिर मैंने रूककर उन युवक की ओर देखा। वे कुछ दुःखी से मालूम होते थे। शायद मैंने उनकी तैयारियों को धक्का दे दिया था। और वे ऐसी आशा लेकर मेरे पास नहीं आए थे। बिना कुछ कहे ही वे जाने लगे तो मैंने उससे कहा : 'सुनो। एक कहानी और सुने जाओ। एक संत थे आजर कैवानी। एक व्यक्ति आधीरात में उनके पास आया और बोला। 'हजरत मैंने कसम खाई है कि फानी दुनिया के सारे ऐशो ईशरत छोड़ दूंगा। संसार के फन्दे को तोड़ने का मैंने निश्चय ही कर लिया है। 'मैं होता तो उससे कहता।' 'पागल, जो कसम खाता है, वह कमजोर होता है। जो और छोड़ने का निश्चय करता है, वह कभी नहीं छोड़ता और छोड़ भी दे, तो फिर छोड़ने को ही पकड़ लेता है। त्याग अज्ञानी चित्त का संकल्प नहीं है। वह तो ज्ञान की सहज छाया है।' लेकिन मैं तो वहां था नहीं। थे कैवान। उन्होंने उस व्यक्ति से कहां :' 'तुमने ठीक सोचा है।' वह व्यक्ति प्रसन्न होकर चला गया। फिर कुछ दिनों बाद आया और बोला 'मैं अभी गुदड़ी और फकीरी पोशाक बना रहा हूं। सरो सामान तैयार होते ही फकीर हो जाना है।' किंतु इस बार कैवान भी न कह सके की तुमने ठीक सोचा है। उन्होंने कहा: 'मित्र, सरो-सामान छोड़ने के लिए ही कोई दरवेश होता है और तू उसीको जुटाने के लिए परेशान है। जा अपनी दुनियां में लौट जा, तू अभी फकीरी के काबिल नहीं है,।'

मित्र, यह विचारणीय नहीं है कि विचारों में धर्म है या नहीं। विचार नहीं, धर्म जब प्राण ही बनता है, तभी सार्थक है। विचारों में तो धर्म बहुत है। वह धर्म उबारता कहां है ? वह तो डुबोता ही है। विचारों की नाव में क्या सागर की यात्रा पर कोई निकलता हैं ? लेकिन सत्य के सागर में तो व्यक्ति विचारों की नाव को लेकर ही निकल जाते हैं। फिर यदि वे किनारों पर ही डूबते देखे जाते हों तो कोई आश्चर्य नहीं। विचारों की नाव से तो कागज की नाव भी कहीं दूर ले जा सकती है। वह भी कहीं ज्यादा वास्तविक है।

विचार तो स्वप्न की भांति हैं। उनपर भरोसा उचित नहीं है।

धर्म विचार में ही हो तो उससे ज्यादा असत्य और कुछ भी नहीं है।

धर्म शास्त्रों में ही है, इसी लिए तो मृत है।

धर्म शब्दों में ही है, इसीलिए तो व्यर्थ है।

धर्म सिद्धान्तों में ही है, इसीलिए तो निष्क्रीय है।

धर्म संप्रदायों में ही है, इसीलिए तो धर्म धर्म ही नहीं है।

धर्म तो जींवन में हो, तभी जीवित बनता है। धर्म तो प्राणों के प्राण में हो, तभी सत्य बनता है। और जहां सत्य है, वहां शक्ति है। जहां शक्ति है, वहां गति है। जहां गति है, वहां जीवन है।

एक कैदी की मृत्यु हो गई थी। उसकी मृत देह के पास लोग इकट्ठे थे और रो नहीं, हंस रहे थे। यह देख मैं भी उस भीड़ में रुक गया था। बहुत बार उसने सजायें काटी थीं। और शायद ही कोई जुर्म हो जो उसने न किया हो। उसके जीवन का अधिकांश कारागृहों में ही व्यतीत हुआ था। लेकिन आदमी वह बड़े धार्मिक विचारों का था। धर्म की रक्षा के लिए एक लट्ठ तो सदा ही उसके हाथों में रहता था। और जब वह गालियां नहीं बकता था तो मुछों पर ताव देता हुआ राम-राम ही जपता रहता था। वह सदा कहा करता था। "अनादार से मृत्यु भली।" यह उसका जीवन – सिद्धान्त था। एक कागज में धार्मिक विधि से लिखवाकर उसने अपने इस मंत्र को ताबीज में बंद करवाकर भुजा में बांधा रखा था। फिर जब उसे इतने से ही तृप्ति न हुई तो अंतिम बार जब वह कारागृह से छूटा तो उसने वे शब्द अपनी दोनों भुजाओं पर गुदवा भी लिए थे। राम नाम तो उसके शरीर में अनेक जगह गुदा ही हुआ था। उसका मृत शरीर सुबह की धूप में पड़ा था। उसका जीवन उसके जीवन की और उसकी दोनों बाहें उसके जीवन-दर्शन की घोषणा कर रही थीं। और तभी में समझ सका कि लोग रो क्यों नहीं रहे थे? और हंस क्यों रहे थे?

धर्म के नाम पर मनुष्य की जो स्थिति है वह भी ऐसी ही है।

मैं आपसे यह जरूर ही पूछना चाहता हूं कि उस स्थिति पर रोना उचित है या कि हंसना उचित है?

एक दोपहर की बात है। कुछ व्यक्ति आये और कहने लगे। 'परमात्मा नहीं है। और धर्म धोखा—धडी है।'

मैं उनकी बात सुन हंसने लगा तो उन्होंने पूछा। 'आप हंसते क्यों हैं।'

मैंने कहा। 'क्योंकि अज्ञान मुखर है और ज्ञान मौन। क्या परमात्मा के होने या न होने के संबंध में कुछ भी कहना इतना आसान है? मनुष्य की क्षुद्र बुद्धि के सभी निर्णय क्या हंसने योग्य ही नहीं है? जो स्वयं की बुद्धि की सीमा को जानते हैं, वे निर्णय नहीं लेते अपितु अवाक रह जाते हैं। और उस रहस्य-पूर्ण क्षण में ही वे स्वयं की सीमा का अतिक्रमण भी कर जाते है। तब वे स्वयं को भी जानते हैं और सत्य को भी। क्योंकि सत्य स्वयं में है और सत्य में स्वयं की सत्ता है। क्या बूंद सागर में और बूंद में सागर नहीं है? और क्या यह उचित है कि बूंद स्वयं को जाने बिना सागर को जानने चले और जब न जान सके तो कहे कि सागर है ही नहीं? बूंद स्वयं को ही जान ले तो सागर को भी जान लेता है। परमात्मा का विचार व्यर्थ है। मैं आपसे पूछता हूं 'क्या आप स्वयं को जानते हैं। और क्या इस शर्त को पूरा किये बिना कोई भी परमात्मा के संबंध में होने या न होने का निर्णय लेने का अधिकारी है?'

'क्या आप स्वयं को जानते हैं?' यह प्रश्न सुन वे मित्र एक दूसरे की ओर देखने लगे थे। और क्या आप भी यह प्रश्न सुन ऐसे ही एक दूसरे की ओर नहीं देखने लगेंगे? लेकिन स्मरण रखें कि स्वयं को जाने बिना जीवन में न कोई सार्थकता है, न धन्यता है। उन मित्रों को हजारों साल पूर्व युनान में हुई एक वार्ता मैंने बताई थी।

एक वृद्ध ऋषि से किसी ने पूछा। 'संसार की वस्तुओं में सबसे बड़ी वस्तु क्या है?'

ऋषि ने कहा: 'आकाश। क्योंकि जो भी है, आकाश में है और स्वयं आकाश किसी में नहीं है।'

उसने पूछा।' 'और श्रेष्ठतम?'

ऋषि ने कहा: 'शील। क्योंकि शील पर सब कुछ न्यौछावर है लेकिन शील किसी के लिए भी नहीं खोया जा सकता है।'

उसने पूछा 'और सबसे गतिवान्?'

'ऋषि ने कहा: विचार।'

उसने पूछा: 'और सबसे सरल?'

'ऋषि ने कहा': उपदेश।

उसने पूछा: 'और सबसे कठिन?'

ऋषि ने कहा: 'आत्मज्ञान।'

निश्चय ही स्वयं को जानना सर्वाधिक कठिन प्रतीत होता है क्योंकि उसे जानने को शेष सब जानना छोड़ना पड़ता है। ज्ञान से शून्य हुए बिना स्वयं का ज्ञान नहीं हो सकता है।

अज्ञान आत्मज्ञान में बाधा है।

ज्ञान भी आत्मज्ञान में बाधा है।

लेकिन, एक ऐसी अवस्था भी है, जब न ज्ञान है, न अज्ञान है, उस अंतराल में ही स्वयं का ज्ञान आविर्भूत होता है।

मैं उस अवस्था को ही समाधि कहता हूं।

प्रेम के फूल

(पत्रों से)

संकलनः : महासति चन्दनबाला

सत्य के अनुसन्धान की अभीत्सा बहुत ही कम व्यक्तियोंमें होती है। हृदय की धडकनों में सत्य की प्यास बहुत शुभ है। क्योंकि अंततः उसकी पीडा ही प्राप्ति बन जाती है। भूमि में दबा कोई बीज जिस भांति अंकुरित होने को व्याकुल होता है। जब प्राण परमात्मा के लिये भी उसी भांति आकुल हो उठते हैं तो फिर कोई बाधा, नहीं रह जाती है। वस्तुतः बाधा है ही नहीं। हममें प्यास की तीव्रता का न होना ही बाधा है।

☆ मेरा सारा प्रेम और सारी प्रार्थनाएं उनके लिये है, जो कि परमात्मा के प्यासे हैं और परमात्मा के लिये पागल है।

☆ मैं तुम्हारे मन में प्रगट हो रही उन्मुक्तता से कितना आनंदित हूं–यह कैसे कहुं? किसी भी चित्त की कडियें टूटते देखकर मैं आह्लादित होता हूं। तुम्हारे गिरते बंधन भी मेरे है और तुम्हारी आत्मा को मिलता आकाश भी मेरा ही है। परमात्मा से एक ही प्रार्थना करता हूं कि वह तुम्हें बल दे और सत्य और स्वतंत्रता के मार्ग पर ले चले। स्वतंत्रता में सत्य का जन्म होता है और सत्य से स्वतंत्रता आती है।

☆ साहस–अदम्य साहस और दुस्साहस के बिना सत्य के पथ पर चलना असंभव है।

☆ सत्य के अनुसन्धान में सदा स्वयं के अंतःकरण पर ही दृष्टि रखनी आवश्यक है। समाज विचारणीय नहीं है। भीतर जो स्पष्टतया मार्ग प्रतीत हो, वही मार्ग है। किसी भी मूल्य पर उससे डिगना मंगलदायी नहीं है।

☆ स्मरण रहे कि व्यक्ति अंततः स्वयं को छोडकर और किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं है।

☆ प्रेम से पवित्र और कुछ भी नहीं है।

☆ विचार परिवर्तन से आसपास चिन्ता होना स्वाभाविक है। लेकिन उससे स्वयं चिंतित मत होना। वरन् प्रसन्न होना। उसे शुभ मानना। अस्पताल में जब कोई व्यक्ति स्वस्थ होने लगता है, तो दूसरे अस्वस्थ व्यक्ति उसका स्वागत नहीं कर पाते हैं। न ही कारागृह से छूटते कैदी से अन्य कैदियों को आनंद होता है। फिर विचार की रुग्णता तो और भी गहरी है और विचार के कारागृह की दीवारें तो और भी मजबूत है। दासों ने स्वतंत्रआत्मा–तेज व्यक्तियों को कभी भी पसंद नहीं किया है। उनकी उपस्थिति मात्र उनके लिये अपमान और आत्मग्लानि बन जाती है। छोटे व्यक्तियों के बीच, इसीलिये, बडा होना बडी जोखिम का काम है।

☆ मेरे संबध में कोई कैसी धारणा बनाता है, उसकी फिक्र मैंने कभी नहीं की। मैं औरों से मुक्त हूं। उनका आदर–अनादर उनकी प्रशंसा–निंदा कुछ भी मुझ तक नहीं पहुचती है और इसीलिये आनंदित हूं। परमात्मा के अतिरिक्त और कोई भी मेरे लिये नहीं है।

प्रतीक्षा का भी अपना आनंद है।

सत्य के लिए तो प्रतीक्षा ही प्रार्थना है।

☆ परमात्मा के बीज बोना है तो मन की भूमि सब घास पात से मुक्त होनी चाहिए। शब्द और सिद्धान्तों से चित्त जितना स्वतंत्र होता है, सत्य के लिए उसके द्वार उतनेही उन्मुक्त हो जाते हैं।

☆ जिज्ञासा परतंत्र ने हो तो परमात्मा से निकट और कुछ भी नहीं है और मन पूर्णतया मौन हो तो वह मौजूद ही है।

प्रेम न तो कष्ट जानता है न तो भार। प्रेम तो निर्भार है। आनंद के अतिरिक्त उसकी और कोई अनुभूति ही नहीं है। क्या मेरे इस प्रेमका तुम्हें अनुभव नहीं होता है, जो मेरे हृदय से पहाडी झरनों की भांति सतत बहा

जाता है? निश्चित ही उसकी प्रतिध्वनियाँ तुम्हारे हृदयको भी तो स्पर्श करती ही होंगी। भीतर खोजना। प्रेम का परमात्मा वहां सदा उपस्थित है। प्रेम के दिव्य आलोक को खोकर ही मनुष्य स्वयं को खो देता है। मैं आत्मा की, मोक्ष की खोज को मूलतः प्रेम की ही खोज मानता हूँ। प्रेम के प्रहार में ही अहंकार गलता है और आत्मा उपलब्ध होती है; और प्रेम के प्रहार में ही वासना के बंधन टूटते है और मोक्ष के द्वार खुलते है।

☆ प्रेम प्रकाश के लिए आमंत्रण है और जो प्रेम के विपरीत चलता है वह अपने ही हाथों परमात्मा से दूर होता जाता है।

☆ प्रेम या अहंकार—जीवन की दो ही दिशायें हैं और परिणाम भी दो हैं—मोक्ष या मृत्यु।

☆ प्रेम को खोजो। शेष सब उसके पीछे अपने आप चला आता है। और स्मरण रहे कि प्रेम के दो शत्रू हैं—राग और विराग। राग और विराग दोनों से **उपशम** हुये चित्तमें ही प्रेम का जन्म होता है।

तुम्हारे हृदय में जिज्ञासा की नयी नयी तरंगें उठते देखकर मैं आनंदित हूँ। जीवन जड़ता नहीं है। जीवन तो अविछिन्न प्रवाह है। लेकिन चित्त जड है। वह अतीत और मृत है। उसके कारण ही जीवन में भी गतिरोध आ जाते हैं। और वही बांध बनकर जीवन सरिता को छोटे छोटे **डबरों में** बदल देता है। चित्त की इन दीवारों को रोज दहाते चलना जरूरी है। स्मृति और संस्कार के मृत-अवरोध-तत्व रोज जलाते चलना आवश्यक है। उनकी राखमें से ही, उनकी मृत्यु में से ही, जीवन की अखण्ड धारा उपलब्ध होती है। उसकी उपलब्धि ही आत्मा है। उसकी उपलब्धि ही आनंद है। और स्वयं न हो जाना ही मोक्ष है।

अभाव का, किसी गहरी रिक्तता का तुम्हें अनुभव होता है, यह शुभ है, क्योंकि अभाव की यह पीड़ा ही नये जीवन के जन्म की प्रसव-पीड़ा बनती है। अभागे है वे, जो अपनी क्षुद्र वासनाओं में इस अभाव को ढांक लेते है, क्योंकि इस भांति वे स्वयं की आत्मा को ही नहीं जान पाते हैं। और अधिकतर जीवन अभाव को ढांकने में व्यर्थ नाश होते है। किसी भी दौड़में, किसी भी तृष्णामें इस अभाव को ढांका जा सकता है। धन, मद, पुण्य, मोक्ष—कोई भी दौड स्वयं की रिक्तता को ढांक देती है। संसार या संन्यास —कोई भी वासना

उस पर आवरण बन जाती है। और स्मरण रहे कि आवरणों से अभाव मिटता नहीं, मात्र भूला ही रहता है। हर मृत्यु उसे पुनः उघाड देती है और तब फिर उसे ढांकने के लिए नये चक्र का प्रारंभ हो जाता है। इसीलिए मृत्यु का भय होता है, क्योंकि जिस सत्य को व्यक्तिने जीवनभर ढांका मृत्यु उसका ही अत्यंत कष्ट-दायी साक्षात बन जाती है। इस सत्य को मृत्युके पूर्व ही जो स्वयं ही जान लेता है, वह सौभाग्यशाली है। अभाव से भागना नहीं। वह मित्र है। उसमें जीना। उसमें जीनेसे ही सरलता और अहंशून्यता आती है। और शून्यता सत्य के लिए द्वार है। अभाव में जीने को ही मैं ध्यान कहता हूँ।

प्रेम की अभिव्यक्ति कैसे हो, यह तुमने पूछा है। अहंकार में जो जीता है, उससे घृणा की अभिव्यक्ति होती है। अभाव में जो जीता है उसकी श्वास श्वास प्रेम बन जाती है।

मै नहीं हूँ, यह जान लेना ही प्रेम है।

हृदय जब तक प्रेम से झंकृत न हो तबतक एक रिक्तता और अभाव का अनुभव होता है। प्रेम के अतिरिक्त आत्माकी पूर्णता की अनुभूति और किसी द्वारसे नहीं होती है। प्रेम के अभाव में आत्मा में क्या है? अहं और केवल अहं। मैं और केवल मैं। यह मैं एकदम मिथ्या है। छाया की भी वह छाया है। उसकी उपस्थिति ही रिक्तता है। वह है, यही अभाव है। अहं की छाया प्रेम के प्रकाश में तिरोहित हो जाती है और तब तो शेष रह जाता है, वही बस है। प्रेम साधना है। वह सिद्धि है।

मैं कहता हूँ:—प्रेम ज्ञान है। और अज्ञान क्या है? अहं अज्ञान है। और अहं ही ज्ञान की खोज करने लगता है तो वैसा ज्ञान महा–अज्ञान बन जाता है। अहं की खोज से पांडित्य आता है। पांडित्य सूक्ष्मतम परिग्रह है। प्रज्ञा का जन्म अहं से नहीं, प्रेम से होता है। इसलिए अहंकार प्रेम से सदा भयभीत रहता है। वह राग कर सकता है। विराग कर सकता है। लेकिन प्रेम? नहीं। प्रेम तो उसकी मृत्यु है।

प्रेम न राग है, न विराग है। प्रेम परम वीतरागता है। प्रेम संबंध नहीं है। प्रेम है स्वयं की स्थिति। राग किसी से होता है। विराग भी किसी में से होता है। प्रेम स्वयं में होता है। वह है सहज स्फूरण। अकारण और अप्रेरित। और इसीलिए राग भी बांधता है। विराग भी बांधता है। प्रेम मुक्त करता है। प्रेम मुक्ति है।

धर्म क्या है?

संघठना या साधना ?

धर्म संगठित होते ही धर्म नहीं रह जाता है। संगठनके स्वार्थो की दिशा धर्म की दिशासे भिन्न ही नहीं, विपरित भी है। इसीलिए धर्म के नामपर खडे संप्रदाय वस्तुतः धर्म की हत्या में ही संलग्न रहते हैं। धर्म है, वैयक्तिक चेतना-जागरण। संप्रदाय है, भीड़ का शोषण। धर्म के लिए चेतना का भीड से, समूह से स्वतंत्र होना आवश्यक है। जबकि संप्रदाय चेतना की ऐसी स्वतंत्रता का शत्रु ही हो सकता है। संप्रदायों की वासनामें केवल वे ही हो सकते हैं जो कि स्वयं के मित्र नहीं है। परतंत्रता शत्रु है। स्वतंत्रता ही मित्र है।

☆ वह प्रसन्नता शुभ नहीं है, जो कि प्रयास से आती है। मैं तो तुम्हारे हृदयमें उस आनंदका जन्म चाहता हूँ जो अनायास ही बहता है। स्व–स्फूर्त ही हृदय की वीणापर जो संगीत बजने लगता है, उसके अतिरिक्त शेष सब संगीत धोखा है। आनंद खोजो। सरल आनंद को। अभ्यासजन्य प्रसन्नता से तृप्त और तुष्ट मत हो जाना। ऐसी स्थितियाँ अंततः आत्मघात सिद्ध होती है।

—

विचार अणु

(चर्चाओं से संकलित स्वर्ण सूक्तियां)

संकलन श्री निकलंक, एम. एस सी.

१. सत्य को पाने के लिये स्वयं को खोने का सूत्र सीखो। स्वयं को खोये बिना सत्य नहीं पाया जा सकता। क्योंकि स्वयं का होना है बीज की भांति और बीज जब मिटता है, तभी सत्य का अंकुर जन्मता है। जीवन के लिये मरना सीखना ही होता है।

२. क्या आनंद की खोज में हो? तो दूसरों को आनन्द दो। जगत् तो एक प्रतिध्वनि मात्र है। हम जो करते हैं, वही हमारे पास वापिस लौट आता है। जो दूसरों को आशीष देता है उसपर आशीषों की वर्षा होने लगती है, और जो गालियां, उसपर गालियों की। पत्थरोंके उत्तर में पत्थर ही लौटते हैं, प्रेम नहीं। और जो दूसरों के लिये कांटे बोता है, उसे स्वयं के लिये भी कांटों की ही फसल काटने को तैयार रहना होगा। घृणा घृणा को आमंत्रित करती है, प्रेम प्रेम को। यही शाश्वत नियम है।

३. ज्ञान मिथ्या है, यदि वह विनम्र नहीं। क्योंकि विनम्रता के अभाव में ज्ञान का आविर्भाव ही नहीं होता। ज्ञान के साथ अहंकार, इस बात की घोषणा है कि ऐसा ज्ञान उधार है।

४. पाप क्या है? स्वयं के ईश्वरत्व से अस्वीकार। स्मरण रहे कि स्वयं की दिव्यता की स्मृति के अतिरिक्त और कोई धर्म नहीं है।

५. ईश्वर को खोजना व्यर्थ है। उचित है कि उसे जिओ। जीवन में उसे प्रगट

करो। जो उसे श्वास प्रश्वास की भांति जीता है, वही उसे पाता है।

६. मृत्यु को जीतना है तो मृत्यु से गुजरना पडता है। मन के प्रति जो मर जाता है, वह मृत्यु को जीत, अमृत को पा लेता है।

७. सत्य को पाना है और शास्त्रों को खोजते हो? इससे अधिक पागलपन और क्या होगा? सत्य से तो शास्त्रों का जन्म हो सकता है किन्तु शास्त्रों से सत्य का जन्म कभी नहीं हुआ। शास्त्रों में नहीं, वह तो स्वयं में है। लेकिन जीवित हृदय में तो अंधकार है और मृत शब्दों में उसे खोजा जाता है।

८. अंधकार भीतर है तो बाहर का कोई प्रकाश प्रकाश नहीं है।

९. जीवन एक है—समग्र जीवन एक है। यह अनुभव ही प्रेम है।

१०. अज्ञान कहां है? अहंकार में अज्ञान है। और इस अहंकार में ही वासना की जडें हैं।

११. वासना में दुख है, क्योंकि वासना दुष्पूर है।

१२. मनुष्य जो भी चाहता है, और जिसकी भी कामना करता है, उससे उसे शांति नहीं मिल सकती, क्योंकि इस भांति जो भी पाया जा सकता है, वह क्षणभंगुर होता है। जो मन कामना करता है, वही जब क्षणजीवी है, तो उसके काम्य चिरजीवी कैसे होंगे?

१३. सत्य को, नित्य को, शाश्वत को पाने का द्वार कामना नहीं है। तृष्णा नहीं है। वासना नहीं है। वस्तुतः, मन ही उसे पाने का मार्ग नहीं है। वह तो वहीं है, जहां मन नहीं है।

१४. क्या प्रभु की वाणी सुनना चाहते हो? तो संसार के प्रति बहरे हो जाओ। संसार के प्रति जो बहरे हैं, वे ही उसे सुनते हैं, और जो अंधे हैं, वे ही उसे देखते है और जो लूले लंगडे हैं, वे ही उसमें गति करते हैं।

१५. वासना के पीछे दौडना एक मृगमारीचिका के पीछे दौडते रहना है। वह एक मृत्यु से दूसरी मृत्यु की यात्रा है। जीवन के भ्रम में इस भांति मनुष्य बार बार मरता है। लेकिन जो वासना के प्रति मरने को राजी हो जाते हैं, वे पाते हैं कि उनके लिये स्वयं मृत्यु ही मर गई है।

१६. जीवन केवल उनके लिये ही है, जो कि जीवन के प्रति मरना जानते हैं।

१७. एक दिन था कि मृत्यु मेरी प्रतीक्षा करती थी। मैं भयभीत था तो उसे मेरी प्रतीक्षा थी। फिर मैं आलिंगन करने को बढा तो पाया कि वह है ही नहीं। मृत्यु के भय में ही मृत्यु है। उसका स्वीकार तो मुक्ति बन गया। भय है मृत्यु। और अभय है मोक्ष। मृत्यु उनका पीछा करती है, जो उससे भागते हैं। वह हमारी छाया की

ही भांति है। और जो रुककर और लौटकर उसका साक्षात् करते हैं, उनके लिये वह विलीन हो जाती है। मृत्यु के पूर्व ही मृत्यु को अंगीकार करना मृत्यु से मुक्त हो जाना है।

१८. मैं सागर के किनारे खडा था। मन में प्रश्न उठा कि सारी नदियां सागर में ही क्यों गिरती हैं? निश्चय ही सागर उन सबसे नीचा है, इसलिये ही। और यह विचार एक आलोक की भांति मेरी अंतरात्मा पर फैल गया। धन्य हैं जो विनम्र हैं, क्योंकि परमात्मा अपनी संपदा से उन्हें परिपूरित कर देता है।

१९. परमात्मा को पाने के लिये शुभ और अशुभ दोनों का अतिक्रमण करना होता है। क्योंकि तभी चेतना भेद से उठती और अभेद में प्रतिष्ठित होती है।

२०. मित्र, अशुभ को छोडा है, शुभ को भी छोड दो। क्योंकि जहां तक किसी पर भी पकड है, वहां तक अहंकार है।

२१. आंखें खोलो और देखो। क्या जो भी दिखाई पडता है, वह सब परिवर्तन नहीं है? आंखें जो भी देख सकती हैं, क्या वह सब बहाव ही नहीं है और इस बहती नदी पर जो अपना भवन बनाता है क्या वह होश में है?

२२. शरीर तो मंदिर है। उससे लडो नहीं, उसमें खोजो। उससे होकर ही तो परमात्मा तक पहुंचा जाता है। परमात्मा का जिसमें वास है, क्या वह इस कारण ही पवित्र नहीं? शरीर तो एक तीर्थ है। उसकी शक्तियों को जो आत्मोन्मुखी करने में समर्थ होता है, वह उसके प्रति अत्यंत कृतज्ञता से भर जाता हो तो कोई आश्चर्य नहीं है।

२३. मैं भोर में फूलों के पास था। ओस की बूंदें फूलों पर उतर रही थीं। उनके पद चाप भी तो सुनाई नहीं पडते थे। कितनी शांति से, कितने मौन से और कितनी प्रीति से वे फूलों पर उतर रही थीं! हृदय जब तैयार होता है तो ऐसे ही परमात्मा भी उतरता है। उसके आगमन का भी पता नहीं लगता। उसके आ जाने पर ही जाना जाता है कि वह आ गया है!

२४. मैं पहाडों पर था। पहाडों को जो भी कहना था, वे मुझसे मौन में कहते थे। वृक्षों को जो कहना था, वे भी मौन में कहते थे। और नदियें और झरने और चांद और तारे। सभी की वाणी मौन थी। फिर मैं समझ गया। परमात्मा का इशारा स्पष्ट था। और मैं भी मौन हो गया और मौन होते ही पाया कि परमात्मा बोल रहा है। वह तो पहले भी बोल रहा था लेकिन मौन हुये बिना मैं स्वयं उसे सुनने में समर्थ नहीं था।

२५. मैं क्या कहूं? आकाश में तारे हैं, उन्हें देखो। वे क्या कह रहे हैं? मौन में झरता उनका प्रकाश जो कह रहा है, वही तो मैं भी कहना चाहता हूं। कहना चाहता

हूं कि जो है, वह कहने सुनने के अतीत है।

२६. मैं अति दरिद्र हूं क्योंकि मेरे पास अपना कुछ भी नहीं। मैं भी अपना नहीं हूं तो और क्या मेरा होगा? जो है, परमात्मा का है, सब परमात्मा है। लेकिन जिस क्षण अपनी यह दरिद्रता जानी उसी दिन मेरी सारी दरिद्रता मिट गई। मैं अब सम्राट हूं क्योंकि मैं हूं ही ही नहीं और जो है वह परमात्मा है।

२७. मित्र हैं ऐसे जो गालियां दे जाते हैं और मेरा हृदय उनका आभार मानता है, क्योंकि जब उनकी गालियों के बीच भी मैं उनके प्रति अपने प्रेम को बहता हुआ पाता हूं तो एक ऐसी अलौकिक शांति प्राणों पर छा जाती है, जो कि इस जगत् की नहीं है।

२८. संसार बहुत अद्‌भुत है क्योंकि मैंने देखा कि जो जीवित हैं, वे वस्तुतः जीवित नहीं हैं। वासनाओं का जीवन, जीवन ही कहां? और मैंने जाना कि जो मृत हो गये हैं, वे भी मर नहीं गये हैं क्योंकि आत्मा की कोई मृत्यु नहीं है।

२९. धर्म कहते हैं: 'स्वयं को जानो।' लेकिन स्वयं की सत्ता ही कहां है? क्या 'स्व' का भाव 'पर' की ही छाया नहीं है? इसलिये मैं क्या कहूं कि स्वयं को जानो? नहीं। नहीं। मैं कहता हूं: "जानो। जानो। जानो। जानो उसे जो है।"

३०. शरीर वृद्ध होता जाता है। यह स्वाभाविक ही है। लेकिन स्मरण रहे कि कहीं मन भी तो वृद्ध नहीं हो रहा है? शरीर वृद्ध हो और मन युवा से युवा होता जावे तो ही जीवन का सम्यक् विकास है। शरीर जिस दिन मृत्यु में प्रवेश करे उस दिन मन यदि बिल्कुल नवजात शिशु जैसा हो तो जीवन की यात्रा सफल हो जाती है।

३१. हृदय में घृणा का विष हो तो जीवन में आनन्द के फूल कैसे खिलेंगे? उनके लिये तो निरंतर ही प्रेम की अंतःधारा चाहिये। प्रेम का अमृत जहां है, वहीं आनन्द के फूल हैं।

३२. आनन्द का द्‌वार तो निकट है लेकिन जो घृणा और हिन्सा को पोषता है वह स्वयं ही उसकी ओर पीठ करके चलता है। फिर कोई आश्चर्य नहीं कि वह यदि स्वर्ग को खोजता हुआ भी नर्क में प्रवेश कर जाता हो! जाना तो सभी स्वर्ग चाहते है किन्तु पहुंचना मात्र आकांक्षा से नहीं होता। अंततः निर्णायक है वह दिशा जिस ओर कि मनुष्य चलता है।

३३. मैं नहीं कहता कि तुम कुछ और बनो। जो तुम बन सकते हो, वही बन जाओ। कुछ और बन जाने से बडी पीडा नहीं है। लेकिन अधिकतम लोग कुछ और ही बन जाते हैं। स्वयं को पहचानो। स्वरुप को समझो और वही हो जाओ। स्वरुप में जीना ही स्वर्ग है।

३४. क्या तुम्हें ज्ञात है कि हम अक्सर ही निकट की चीजों को दूर खोजते रहते

हैं ? आनन्द के सम्बन्ध में तो यह शत-प्रतिशत सत्य है। आनन्द कहां है ? इसे पहले जानो और फिर ही उसे पाया जा सकता है। वह तो वहीं पाया जा सकता है, जहां वह है, वहां नहीं जहां कि हम उसे खोजते हैं।

३५. सद्‌गुण सुख है।

३६. एक आदमी सुखी था। मैंने उसका रहस्य जानना चाहा तो ज्ञात हुआ कि वह पसंद के काम की चिन्ता नहीं करता वरन् जो भी काम करता है, उसे ही पसंद करना जानता है।

३७. एक सराय में दो व्यक्ति ठहरे। सराय गंदी थी। पहला व्यक्ति जितनी देर वहां रहा, उसकी गंदगी पर कुढता रहा और दुखी होता रहा। दूसरे व्यक्ति ने उतने समय तक सराय की सफाई की और सफाई से सुखी हुआ। सराय वही थी किंतु एक दुखी हुआ और दूसरा सुखी। जीवन में सृजन से बडा और कोई सुख है ? नहीं। सेवा से बडा और कोई सुख है ? नहीं। सुख चाहते हो तो जीवन की सराय को जैसा पाया है उसे अपने पीछे आने वालों के लिये और सुन्दर और स्वच्छ छोड जाने के लिये श्रम करो। सौंदर्य के सृजन में निश्चय ही सुख है।

३८. मेरे बंधु, क्या तुम्हें ज्ञात है कि तुम जो काम करते हो क्यों उससे न तुम्हें ही आनन्द मिल पाता है, न किसी और को ही ? उसका कारण है किसी भी कार्य को एक बोझ की भांति करना। जबकि आनन्द तो वही कार्य लाता है जो कि आनन्द से किया जाता है।

३९. क्या मैं पूछ सकता हूं कि तुम किसलिये जी रहे हो ? क्या तुम्हारे जीवन में ऐसा कोई लक्ष्य भी है जिसके लिये कि तुम मर भी सको ? यदि नहीं तो जानो कि तुम आज ही मृत हो, क्योंकि जीने की पूर्ण ऊर्जा तो तभी जागती है जब उसे ऐसा लक्ष्य मिल जाता है, जिसके लिये कि हंसते हंसते मरा भी जा सके। मित्र, स्मरण रहे कि मृत्यु के दांव पर ही जीवन उपलब्ध होता है।

४०. एक बार कहीं मैंने कहा कि मैं सम्राट हूं, तो किसी ने पूछा कि: आपका राजमुकुट कहां ? मने कहा:" मस्तक पर नहीं, मेरे हृदय में। वह धातुओं से नहीं, धर्म से निर्मित है। और उसमें हीरों और माणिकों के पत्थर नहीं, शांति, ज्ञान और प्रेम की ज्योतियां जडी हुई हैं। और वह ऐसा राजमुकुट है कि उसे पाने को सम्राटों को भिखारी हो जाना पडता है !

४१. शरीर के और इंद्रियों के सुख सुकुमार फूलों की भांति हैं, जो कि छूते और तोडते ही नष्ट हो जाते हैं। अनिश्वर सुख की खोज में तो शरीर और इंद्रियों से बहुत ऊपर जाना होता है।

४२. मैं तुम्हें क्या भेंट दूं ? क्या कोई कीमती पत्थर ? नहीं। नहीं। क्योंकि पत्थर आखिर पत्थर ही है ! फिर कोई सुन्दर फूल ? नहीं। नहीं। क्योंकि फूल तो मैं दे भी नहीं पाऊंगा और मुरझा जायेगा। मैं तुम्हें अपने हृदय का प्रेम देता हूं क्योंकि इस पूरे जगत् में प्रेम ही अकेला है जो कि पत्थर नहीं है और प्रेम ही ऐसा है जोकि कभी मुरझाता नहीं। प्रेम मनुष्य के हृदय में परमात्मा की सुगन्ध है। प्रेम मनुष्य के प्राणों में परमात्मा का संगीत है।

४३. सत्य में जीना परमात्मा में जीना है। सत्य में जीना प्रेम में जीना है। लेकिन मैं क्या देखता हूं कि परमात्मा तो याद है और सत्य भूल गया है, और सत्य की बातें भी याद हैं लेकिन प्रेम का जीवन भूल गया है। अच्छा होता कि हम परमात्मा को भूल जाते और सत्य को स्मरण रखते, और अच्छा होता कि हम सत्य की बातें भी भूल जाते और प्रेमके जीवन में जीते। प्रेम हो तो सत्य अपने आप आ जाता है। और जहां सत्य है, वहां परमात्मा है।

४४. क्या ही अच्छा हो कि हम इस भांति जियें जैसे कि हमारे जीवन को सारा जगत् देखता हो, और इस भांति विचार करें जैसे कि एक एक विचार सारा जगत् पढता हो। और हमें ज्ञात हो या न हो, बहुत गहरे तल पर वस्तुतः कुछ भी छिपा नहीं है। मनुष्य समस्त से प्रथक थोडे ही है। जो उसके भीतर उठता है, उसकी गूंज अनायास ही सर्व तक पहुंच जाती है। और जैसे वह जीता वह समस्त के जीवन का भाग हो जाता है।

४५. मनुष्य वस्तुतः कृत्यों में जीता है, वर्षों में नहीं। और विचार श्वासों से भी गहरे हैं। श्वासें वर्ष लाती हैं, विचार कृत्य लाते हैं। विचारों से भी गहरे हैं : भाव– हृदय की धडकनें भी उतनी गहरी नहीं हैं। और भावों से भी गहरा एक अतल तल है। वही आत्मा है। स्वयं में जो जितना गहरे से गहरा जाता है, वह जीवन में उतना ऊंचे से ऊंचा उठ जाता है। जो वृक्ष आकाश को चूमने की अभीप्सा से प्रेरित होते हैं, उन्हें पाताल तक अपनी जडें पहुंचाने की तैयारी करनी होती है।

४६. मैं सौदर्य को प्रेम करता हूं, लेकिन शरीर से भी गहरे सौंदर्य के तल हैं। शरीर तो परिधि ही है। विचारों का सौंदर्य है, भावों का सौंदर्य है और फिर निर्विचार, निर्भाव, शून्य सत्ता का परम सौंदर्य भी है। शरीर पर मत रुको। रुकना मृत्यु है। थोडे गहरे पानी में भी चलो। सागर तट पर कंकड पत्थर हीं हैं। मोतियों की खोज के लिये तो गहरे चलना ही पडता है।

४७. घर घर में दर्पण है लेकिन क्या तुमने कभी देखा कि सत्य का एक छोटासा विचार, या प्रेम की एक छोटी सी लहर, या सेवा का एक छोटा सा कृत्य आंखों को,

चेहरे को, व्यक्तित्व को एक अभिनव सौंदर्य प्रदान कर जाते हैं ? यदि नहीं तो तुम अंधे हो, और दर्पण के सामने व्यर्थ ही खडे होते हो। अच्छा हो कि तुम दर्पण को तोड दो, क्योंकि तुम्हें उसके उपयोग का पता ही नहीं है !

४८. जीवन के अंधकारपथ पर मुझे कोई न जाने, तो कोई कठिनाई नहीं, लेकिन मैं स्वयं को ही न जानूं तो क्या होगा ? किन्तु, हम दूसरे हमें जानें, इसके लिये जितने उत्सुक और अभीप्सु होते हैं, उतने इसके लिये नहीं कि हम स्वयं को जानें ! और यही तो कारण है, कि जीवन और अंधकारपूर्ण हो जाता है ; क्योंकि जो स्वयं को ही नहीं जानते, उनके जीवन से आलोक कैसे विकीर्ण हो सकता है ? इसलिये जो समझते हैं उनकी प्रार्थना सदा यही होती है : मैं यदि संसार को अज्ञात, अपरिचित और अनजाना ही मर जाऊं तो मुझे स्वीकार है, लेकिन कम से कम मैं स्वयं को तो जान सकूं। वस्तुत: वह छोटा प्रकाश ही परमात्मा तक ले जाने के लिये पर्याप्त है। मित्र, स्वयं में प्रदीप्त एक छोटा सा दिया भी आकाश के अनन्त अनन्त सूर्यों से ज्यादा बहुमूल्य है।

४९. मैं कहता हूं : 'दो। दो। दो।' करुणा दो, सेवा दो, प्रेम दो. क्योंकि जो जो देता है, वही वापस पाता है।

५०. एक बार गंगा स्नान को गया था। स्नान से शरीर पवित्र हुआ। जल शरीर को स्वच्छ करता है। फिर मैंने साथियों से कहा : "एक और गंगा है। उसमें स्नान से आत्मा भी पवित्र हो जाती है।" वे पूछने लगे : "कौनसी गंगा ?" मैंने कहा : "प्रेम की।"

५१. एक मित्र दुखी थे और रो रहे थे। मैं उन्हें घर के बाहर ले गया और कहा : 'देखो। तारों को देखो' फिर उनके आंसुओं में भी तारे चमकने लगे थे और उनका दुख क्रमश: विलीन हो गया था। फिर वे पूछने लगे कि तारों को देखने से मेरे हृदय का भार हल्का क्यों हो गया ? आकाश को देखते देखते मेरा दुख क्यों विलीन हो गया ? मैंने कहा : "परमात्मा से दूर होना दुख है। प्रकृति से दूर होना दुख है। स्व की सत्ता से दूर होना दुख है।"

५२. 'संसार में सबसे बडा सुख क्या है ?" कोई पूछता था। मैंने कहा : "संसार में होकर भी संसार में न होना। सुख का सूत्र तो एक ही है : पैर संसार में और प्राण परमात्मा में।"

५३. जीवन को स्वीकार करो। वह परमात्मा का प्रसाद है। लडो नहीं। भागो नहीं। उसे प्रेम करो। क्योंकि प्रेम के अतिरिक्त और कोई विजय नहीं है।

५४. मनुष्य जो बाहर देखता है, वह वैसा ही होता है जैसा कि वह भीतर है।

आत्मा के रंग में ही सब रंगा हुआ प्रतीत होता है। भीतर आनन्द हो तो बाहर सब सुन्दर होता है, और भीतर दुख तो बाहर सब कुरुप। वस्तुतः मनुष्य स्वयं को ही सब जगह देखता है। इसलिये तुम यदि नर्क में हो तो जानना है कि उसके कारण तुम्हीं हो, और यह भी जानना कि स्वर्ग में होना भी तुम्हारे ही हाथ में है।

५५. मेरा संदेश पूछते हैं? बहुत छोटा सा है: "जीवन में जागे हुअे जियें क्योंकि जो सोता है वह स्वयं को खो देता है।"

५६. मैं जहां भी देखता हूं वहां जीवन को स्पंदित होते पाता हूं। कण कण जीवन से भरा है। अणु अणु जीवन की अभीप्सा से। देखो, जो जीवन का नृत्य है। सुनो, जो जीवन का संगीत है। और न देखो, न सुनो तो स्वयं में ही जीवन की धडकती हुई अनुभूति है। क्या यह जीवन ही परमात्मा नहीं है? जीवन से अन्य कोई और परमात्मा निश्चय ही मृत और मिथ्या होगा। जीवन ही है सत्य। और परमात्मा दूर बैठा सृष्टा नहीं, वरन् जीवन सृजन की ही सतत प्रक्रिया है। जीवनसृजनात्मकता ही परमात्मा है।

५७. रोज तुम्हें मंदिर जाते देखता हूं। रोज शास्त्रों को पढते भी। लेकिन प्रकृति की ओर तुम्हे कभी संवेदनशील नहीं पाया, इससे चिन्ता होती है। प्रकृति में जो परमात्मा को नहीं देख पा रहा है, वह कहीं और उसे कैसे देख सकेगा? प्रकृति के प्रति स्वयं को खोलो। उसके सौंदर्य को तुम्हारी आंखें बनने दो और उसके संगीत को तुम्हारा हृदय। उस अतिथि को अपने हृदयों के हृदय में ठहराओ और किसी दिन तुम पाओगे कि वह अपरिचित अतिथि ही परमात्मा है।

५८. मैं पहाडों में था तो मैंने पाया कि मेरी आत्मा भी उन जैसी ही ऊंची हो गई है और वे ही नहीं, मेरे चित्त के शिखर भी कभी न पिघली अछूती बर्फ से ढंके हैं, और फिर मैं गहरी घाटियों में था तो पाया कि मैं भी उन जैसा ही गहरा हो गया हूं, और मेरे हृदय में भी रहस्यमय छायाओं का निवास है। और ऐसा ही सागर तट पर हुआ। उन गरजती लहरों में मैं ही था, क्योंकि वे गरजती लहरें मेरे भीतर ही थीं। और जब आकाश को देखता हूं तो मैं अनन्त विस्तार हो जाता हूं और जब आकाश के तारों को, तो अनन्त मौन; और पृथ्वी पर फैले फूलों को, तो अनन्त सौंदर्य। और जब पक्षियों के गीतों को सुनता हूं तो मेरी आत्मा की ही अंतर्ध्वनि उनमें सुनाई पडती है; और जब पशुओं की आंखों में झांकता हूं तो पाता हूं कि वे तो मेरी ही आंखें हैं। और इस भांति क्रमशः मैं मिटता गया हूं और परमात्मा होता गया है। मै अब परमात्मा को कहां खोजूं? कैसे खोजूं? अब तो वही है, और मै नहीं हूं।

५९. क्या मैं परमात्मा की घोषणा करूं? क्या चारों ओर उसकी ही घोषणा

नहीं हो रही है ? क्या प्रकृति ही परमात्मा की घोषणा नहीं है ?

६०. मैं कैसे बोलूं जबकि पर्वत मौन है ? मैं कैसे बोलूं जबकि आकाश मौन है ? मैं कैसे बोलूं जबकि स्वयं परमात्मा मौन है ? फिर भी मैं बोल रहा हूं ताकि तुम्हें उनका मौन सुनाई पड सके। मैं बोल रहा हूं ताकि जब मैं मौन रहूँ तो तुम समझ सको। चित्रकार शुभ रेखाओं को उभारनेके लिये काली पृष्ठभूमि का उपयोग करते है। ऐसा ही मैं भी कर रहा हूं। बोल रहा हूं ताकि तुम मौन को समझ सको। शब्द सार्थक हैं यदि वे निशब्द के लिये इंगित हों। वाणी सार्थक है यदि वह मौन में ले जाये। और जीवन सार्थक है यदि वह व्यक्ति को महामृत्यु के लिये तैयार करता है।

६१. विजय के लिये युद्ध से गुजरना आवश्यक है। लेकिन अधिकतम लोग युद्ध के पूर्व ही विजय चाहते हैं। मेरे देखे ऐसे लोगों के अतिरिक्त और कोई भी अंततः नहीं हारता है।

६२. मित्र, भय न खाओ। क्योंकि जिससे तुम भयभीत हुये, उससे ही तुम्हारा साथ हो जायेगा। जिससे भय खाया, वही तुम्हारा पीछा करेगा। और जिससे जिस मात्रा में भय है, उसी मात्रा में उससे पराजय भी है।

६३. एक घर में अतिथि था। उस घर के बच्चे दौड की प्रतियोगिता में भाग लेने जाते थे। उन्होंने मुझसे पूछा : "दौड में जीतने का राज क्या है ? " मैंने कहा : "धैर्य ? " और पुनः उनसे कहा : "जीवन की दौड में भी इसे स्मरण रखना। जीवन विजय के लिये धैर्य से बडी और कोई शक्ति नहीं है।"

६४. एक दिन खेत के पास से हम निकलते थे। किसान बीज बो रहे थे और गीत गा रहे थे। उनका गीत गाना मुझे बहुत ही अच्छा लगा। मेरे साथ एक उदास व्यक्ति भी थे। वे संन्यासी होना चाहते थे। उनसे मैंने कहा : "देखें। खेत में बीज बोते और गीत गाते किसानों को देखें। जीवन भी ऐसा ही खेत है और जो उसमें सत्य और प्रेम और त्याग के बीज बोना चाहते हैं, उन्हें स्मरण रखना चाहिये कि बीज रोते हुये नहीं बोये जाते हैं। उस भांति सत्य नहीं, प्रेम नहीं, रुदन ही बोया जाता है। और फिर फसल भी आनन्द की नहीं, आंसुओं की ही काटनी पडती है। बीज बोने का सूत्र है गाते हुये बोना, क्योंकि हम जो बोते हैं वहीं नहीं, वरन् जिस चित्त दशा में बोते हैं, वह भी उन बीजों में प्रविष्ट हो जाता है। उदास चित्त से जो संन्यास फलित होता है, वह अंत में दुख ही लाता है। वास्तविक संन्यास का जन्म तो आनन्द में और आशा में होता है।"

समाचार विभाग

जीवन क्रांति की ओर बढते चरण :
आचार्यश्री के देश व्यापी कार्यक्रम :

संकलन : श्री. जटुभाई महेता

शिक्षक केवल यांत्रिक पुनरुक्ति का साधन नहीं :
शिक्षक संगोष्ठी में चर्चा :

जबलपुर नगर के जैन उच्चतर माध्यमिक विद्यालय में पूज्य आचार्यश्री का ५ सितंबर को शिक्षक दिवस के उपलक्ष्य में शिक्षकों की संगोष्ठी के मध्य एक विशेष चर्चा का आयोजन किया गया। अपनी विस्तृत गंभीर और विचारशील चर्चा के मध्य आचार्य श्री ने वर्तमान शिक्षा के समक्ष जो समस्यायें हैं उन पर विवेचन किया और कहा : "शिक्षक केवल यांत्रिक मशीन का कार्य करता है। वह मात्र पुनरुक्ति करता है और इससे कोई स्वस्थ चिन्तन तथा व्यक्तित्व का निर्माण नहीं हो सकता। यदि शिक्षक शीघ्र ही सचेत और जागरुक नहीं हुआ तो उसका कार्य आधुनिक मशीनें भलीभांति कर देंगी और मशीनों तथा फिल्मों के माध्यम से ज्यादा अच्छा मशीनीकृत शिक्षण संभव हो सकेगा। अभी अमरीका में इस दिशा में कार्य हुआ है। लेकिन शिक्षण केवल कुछ नियमों और सिद्धांतों को मशीन की भांति सिखा देना ही तो नहीं है। वह तो जीवित व्यक्तियों को दी जाना है और वह एक जीवन्त प्रक्रिया है। इससे आज जो सबसे बडा दायित्व शिक्षकों के समक्ष है वह स्वयं में स्वतंत्र चिन्तन का विकास और शिक्षण

को यांत्रिक पुनरुक्ति से मुक्त कर चिन्तन और विचार की सशक्त परंपरा को कायम करना। तभी केवल शिक्षार्थियों को जीवन विकास की ओर स्वस्थ दृष्टि-कोण मिल सकेगा।"

जीवन क्रांति के सूत्र :
पूना कार्यक्रमों में मार्मिक उद्‌बोधन

आचार्यश्री १५ एवं १६ सितंबर के लिये पूना पधारे। हिन्द विजय थियेटर में उनके दो सार्वजनिक प्रवचन तथा युवकों और विद्यार्थियों के बीच एक प्रवचन हुआ। सार्वजनिक प्रवचनों में आपने कहा : "जीवन का रहस्य तत्व मीमांसा की धारणाओं के ऊहापोह से नहीं खुलता है। और मात्र विचार व्यर्थ के ऊहापोह के अतिरिक्त कहीं ले जाने में समर्थ भी नहीं हैं। जीवन को जानने के लिये बौद्धिक विचार की नहीं, वरन् निर्विचार की आंतरिक दशा आवश्यक है। उस निस्तरंग मौन और शांति और शून्य में ही सत्ता से साक्षात होता है। विचार तो बांधते हैं किन्तु वह सत्य साक्षात मुक्त करता है।"

विद्यार्थियों के लिये आयोजित सभा में आपने कहा। "मनुष्य विद्रोह की क्षमता के अनुपात में युवक होता है। जिस हृदय में जितनी विद्रोहाग्नि है, वह उतना ही युवा है। विचारों से, रुढियों से और मृत परंपराओं से बंधा हुआ चित्त अनायास ही बूढा हो जाता है। और स्मरण रहे कि बूढा चित्त जीवन को नहीं जान सकता है। वह तो बस मृत्यु को ही जानता है। वह जीता नहीं, वह तो बस मरता ही है। जीवन के लिये युवा मन चाहिये। लेकिन दुर्भाग्य से युवा मन दुर्लभ है। युवा मन से अर्थ है : ऐसा मन जो सदा नवीन है, ताजा है और बीते कल से : अतीत से, बोझिल नहीं है। अतीत से जो बोझिल नहीं होता, वह भविष्य से भी पीडित नहीं होता है। वह तो सदा वर्तमान में होता है। और वर्तमान में होना, जीवन में होना है।"

जहां प्रेम है, वहां परमात्मा है :
बंबई महानगरी में विविध कार्यक्रम :

आचार्यश्री १७–१८–१९–२० सितंबर को बंबई आये। ये चार दिन यहां उनकी अभूतपूर्व वाणी के वर्षा के दिन थे। जिन्होंने भी उन्हें सुना वही उनकी

आत्मा से बरसते अमृत से भींग गया। जैसे प्यासी धरती पहली वर्षा का स्वागत करती है, वैसे ही सत्य के लिये प्यासे हृदय उनकी वाणी से आह्लादित हो उठते हैं। पहले दिन सुन्दराबाई हाल में उनका प्रवचन हुआ। दूसरे दिन बिरला क्रीडा केन्द्र में। तीसरे दिन विले पार्ले और खार में। अध्यापकों की एक विशेष सभा और सर्वोदय मंडल की भी एक विशेष सभा को उन्होंने संबोधित किया। इन सभी सभाओं में खूब भीड थी। बिरला क्रीडा केन्द्र में तो इतना अपार जनसमूह उपस्थित हुआ था कि व्यवस्था करना ही कठिन था। लेकिन भवन के बाहर भी खडे रहकर हजारों लोगों ने अत्याधिक शांति से उनकी वाणी सुनी। उनका मूल संदेश क्या है? वे कहते हैं, "सत्य स्वयं में है और सरल है। लेकिन हम जटिल हैं। इसलिये उसे पाना कठिन हो गया है। हृदय को प्रेम से भरो और सरल हो जाओ। क्योंकि प्रेमपूर्ण हृदय के अतिरिक्त और कोई सरलता नहीं है। प्रेम हृदय की कठोरता को तोडता है और प्रभु के आगमन के लिये द्वार खुल जाता है। जहां प्रेम है। वहां परमात्मा है।"

सत्य और जीवन :
जबलपुर नगरी में प्रवचन :

जबलपुर नगरी में २२ सितंबर को एक सार्वजनिक सभा का आयोजन पूज्य आचार्यश्री की अध्यक्षता में श्री जैन नवयुवक सभा की ओर से श्री महावीर सार्वजनिक लायब्रेरी में किया गया। यह आयोजन पर्यूषण पर्व के उपलब्ध में था। आचार्यश्री ने "सत्य" पर अपने मौलिक तथा अनुभूतिपूर्ण विचारों को अभिव्यक्त किया। आपने उद्‌बोधन करते हुये कहा : "सत्य की अनुभूति जीवन की समग्रता में है। सत्य को जानने में सबसे बडी रुकावट जीवन को खंड-खंड में बांट देने की है। केवल दस दिन ही वर्ष में धर्म के लिये होंगे। मंदिर में ही मन शुद्ध होगा। यह जीवन दृष्टिकोण अवैज्ञानिक है। जीवन तो अखंडित चेतना का प्रवाह है। उसमें स्थान का और समय का विभाजन नितांत अवैज्ञानिक है। समय में और स्थान में सत्य को बांधा नहीं जा सकता। वह तो है। हमारी आंख ही बंद है। इससे ही सारा अंधा खेल चलता रहता है। आंख खुल जाये तो इसी क्षण और यहीं सत्य उपलब्ध हो सकता है। समय और स्थान सत्य के मार्ग में अवरोध नहीं हो सकते।"

जीवन के सूक्ष्म तलों को छूते हुये आपने कहा कि : "मैं" की दौड संसार की ओर ले जाती है। सारे जीवन व्यक्ति अपने "मैं" को भरने में लगा रहता है। उसे दूसरों की प्रतिस्पर्धा में धन से, पद से, यश से बडा करता है। जब ऐसा व्यक्ति चित्त संन्यास में आता है तो त्याग में भी उसका "मैं" का केन्द्र सा ही बना रहता है। संसार में जो चित्त भोग का सुख लेता था, संन्यास में अब वही त्याग का सुख लेता है। यह केवल दिशा का परिवर्तन है। आंतरिक चेतना का नहीं। और संन्यास का जन्म तो आंतरिक चेतना में क्रांति घटित हो जाने से होता है। जब व्यक्ति की चेतन सत्ता भोग और त्याग से शून्य होती है, तब वह सत्य में होती है।"

अंत में आपने कहा कि : "अभ्यासी और सत्य का दूर का भी संबंध नहीं है। अभ्यास से, साध साधके जो त्याग जीवन में आता है, उसका कोई भी मूल्य नहीं है। एक साधु से मैं परिचित हूं। अंतिम नग्न अवस्था में रहने के पूर्व वे अपने बंद कमरे में नग्न रहने का अभ्यास करते थे। मैंने कहा : इस तरह साध साधके आप नग्न रहियेगा तो वह मात्र अभिनय ही होगा। महावीर की नग्नता साधी हुई नहीं थी। वह तो चित्त की अत्यंत निर्दोष अवस्था में सहज फलित हुई थी। वह तो चित्त की निर्दोषता का सहज परिणाम था।"

जबलपुर शिक्षण महाविद्यालय में : "स्वतंत्रता और सत्य" पर प्रवचन

आचार्यश्री ने यहां २३ सितंबर को कहा : "सत्य को जानना है तो स्वतंत्र बनो। परतंत्र चित्त के लिये और कुछ भी हो, परमात्मा नहीं है। और परतंत्रतायें बहुत हैं। आत्मा पर जंजीरों का बहुत—बोझ है। संप्रदाय, शास्त्र, सिद्धांत, परंपरायें, धारणायें और बद्धमूल पक्षपात क्या हैं? लेकिन, मनुष्य चूंकि सदा ही उनमें जिया है, इसलिये उसे उनमें परतंत्रता ही दिखाई नहीं पडती है। यह अंधापन अत्यधिक आत्मघाती है। क्योंकि जिसे परतंत्रता परतंत्रता ही न प्रतीत होती हो, उसके लिये तो स्वतंत्रता की संभावना ही समाप्त हो जाती है। स्वयं के चित्त से लपटी दासताओं को पहचानो और उन्हें तोड दो। वस्तुतः तो उनका पहचान लिया जाना ही उनका टूट जाना है। क्योंकि, अज्ञान में ही उनकी सत्ता और शक्ति है। और फिर जब तुम्हारा चित्त स्वतंत्र और मुक्त होगा तो सत्य को खोजने तुम्हें नहीं जाना होगा, वरन् तुम पाओगे कि सत्य तो स्वयं ही तुम्हें खोजता तुम्हारे द्वार आ गया है। सरितायें जैसे सागर की ओर बहती ह वैसे ही सत्य उस आत्मा की ओर बहता है जो कि स्वतंत्रता में प्रतिष्ठित है।"

काम, प्रेम और आनंद बने।

विद्यार्थियों के मध्य प्रवचन :

जबलपुर से निकट स्थित पनागर ग्राम में २४ सितंबर को पूज्य आचार्यश्री का माध्यमिक उच्चतर विद्यालय में प्रवचन आयोजित हुआ। इस आयोजन में किशोर बालकों के मध्य जीवन निर्माण की दिशा की ओर इंगित करते हुये आचार्यश्री ने कहा : आज की शिक्षा जीवन विरोधी है। उसके माप दन्ड प्रारंभ से ही घृणा को जन्म देते हैं। प्रारंभ से ही हम बच्चों को प्रतिस्पर्धा में उलझा देते हैं। और प्रथम आने पर पुरुष्कृत करते हैं। इस तरह जीवन के बहुत प्रारंभ से ही बच्चों के मन घृणा और हिन्सा से भर जाते हैं। यह बहुत घातक है। इससे एक ओर हम नये–नये विद्यालय और विश्वविद्यालय खडे करते हैं और वहीं दूसरी ओर उनके विनाश के बीज भी बोते चलते हैं। आज जो विश्व की स्थिति बनी है और आदमी ही अपने हाथों अपने संपूर्ण विनाश के द्वार पर आकर खडा है। उसके मूल में घृणा और हिन्सा के बीज हैं। हम सारे लोग इसके लिये जिम्मेवार हैं। क्योंकि जो शिक्षण प्रतिस्पर्धा के माध्यम से घृणा के बीज विकसित करता हो और प्रेम को विकसित न कर पा रहा हो तो उसका और परिणाम हो भी क्या सकता है।"

शिक्षा की मूल जडों की ओर इंगित करते हुये आपने कह : "शिक्षा से घृणा नहीं, प्रेम विकसित होना चाहिये। आज मानवीय हृदय से प्रेम के स्रोत सूख गये हैं। चारों ओर प्रेम का अभाव है। आज के हमारे शिक्षण में मानवीय मूल्यों का गलत विभाजन है। हम राष्ट्रपति को सम्मानित करते और चमार को घृणित करते हैं। इससे अधिक अमानवीय और कुछ नहीं हो सकता, जबकि दोनों ही समान आदर के पात्र हैं। शिक्षण के माध्यम से प्रत्येक व्यक्ति के जीवन की स्वाभाविक क्षमताओं का विकास होना अपरिहार्य है। जो व्यक्ति अपने भीतर जिन संभावनाओं को लेकर विश्व में आता है, उसे उस क्षेत्र में ही विकास के साधन देना शिक्षण का वास्तविक अर्थ है। इससे ही सृजनात्मक शिक्षण का उदय होगा और जीवन में प्रेम तथा आनन्द विकसित हो सकेगा। और व्यक्ति के जीवन में काम, प्रेम तथा आनन्द का साधन बन सके। इससे अधिक मूल्यवान कुछ भी नहीं है। सही–सही अर्थों में व्यक्तित्व का विकास हो तो ही मानवीय मूल्यों में क्रांति घटित हो सकेगी और प्रत्येक व्यक्ति आदर तथा प्रेम सहज ही उपलब्ध कर सकेगा।"

धार्मिक जीवन का चरम लक्ष्य : आंतरिक चेतना में क्रांतिः

पनागर की नागरिक सभा में अमृतवर्षा :

पनागर ग्राम में २६ सितंबर को एक सार्वजनिक सभा का आयोजन पूज्य आचार्य श्री की अमृतवाणी को सुनने के लिये वहां के नागरिकों की ओर से किया गया। अपने प्रवचन में आपने कहा : "आज हर व्यक्ति किसी न किसी धर्म और ईश्वर के साथ है। लेकिन बडा आश्चर्य है कि धर्म के और परमात्मा के साथ कोई नहीं है। कोई धर्म से हिन्दू है। तो कोई मुसलमान। कोई बौद्ध जैन अथवा ईसाई। इसी तरह कोई राम को माननेवाला है, कोई कृष्ण को माननेवाला है। कोई बुद्ध को, महावीर अथवा क्राइस्ट को। प्रत्येक को उसका संगठन जो सिखाता है, वह बिना जाने ही स्वीकृत है। जन्म से ही व्यक्ति का धर्म निर्धारित हो जाता है। इस सबसे धर्म केवल संगठनों में बंट गया है। और संगठन एक दूसरे के विरोध तथा घृणा से चलते हैं। धर्म के इन संगठनों ने दुनिया में जितनी खून खराबी की है, उतनी किसी और कारण से नहीं हुई। दुनियां के इतिहास में जितना बडा नुकसान अलग अलग धर्मों के माननेवालों ने किया है, किन्हीं और ने नहीं किया। आज धर्म के नाम पर केवल संगठन ही चल रहे हैं। धर्म का तो उनसे दूर का भी संबंध नहीं। क्योंकि धर्म को किसी संगठन में खडा नहीं किया जा सकता और न ही ईश्वर को अलग अलग माननेवालों में विभाजित ही किया जा सकता है। धर्म तो जीवन की स्वतंत्र अभिव्यक्ति है। ईश्वर भी कोई अलग अलग रुपों में खडा व्यक्ति नहीं। वरन् समग्र सत्ता की अभिव्यक्ति है। आज दुनिया में धर्म को बचाना है तो उसे संगठनों से प्रथक करना होगा। तथाकथित धार्मिकों के हाथों से उसे अलग करना होगा।"

आचार्यश्री ने अपने प्रवचन में अनेकों प्रसंगों पर मार्मिक और सारगर्भित कथानक रखे और व्यक्ति की चेतना तरंगों में नवचेतना जागृत की। आपने कहा कि : "धार्मिक जीवन स्वयं की अनुभूति का जीवन है। शास्त्रों से पढी हुई बातें केवल स्मृति में बैठ सकती हैं। उनसे जीवन्त अनुभूतियों को नहीं जाना जा सकता। शास्त्र तो अधिक से अधिक अनुभूति के जगत में रुकावट बन सकते हैं। इससे प्रत्येक व्यक्ति को अपनी चेतना के गहरे आयामों में स्वयं ही गति करना होती है। और जीवन सत्य को उद्घाटित करना होता है। चेतना की यह क्रांति ही धार्मिक जीवन का चरम लक्ष्य है।"

पिन्डरई विश्व मैत्री दिवस पर उद्‌बोधन :

आचार्यश्री विश्व मैत्री दिवस को उद्‌बोधन करने के लिये २९ सितंबर की दोपहर यहां पधारे। सैकड़ों व्यक्तियों ने स्टेशन पर आपका स्वागत किया। वह दृश्य अपूर्व था। आनन्द और कृतज्ञता से ग्राम्य जनों की आंखें गीली थीं। दोपहर को आचार्यश्री ने शिक्षकों और विद्यार्थियों के मध्य अपने विचार अभिव्यक्त किये और रात्रि में एक विशाल जनसभा को अपना अमृत संदेश दिया। ऐसी सभा इस ग्राम में कभी भी नहीं हुई थी। ग्राम की जनसंख्या ही केवल दो हजार है लेकिन सभा में ५—६ हजार नर नारी थे। आसपास के ही नहीं, दूर दूर से ग्रामों से भी लोग आये थे। नैनपुर, मंडला आदि से सैकडों व्यक्तियों का आगमन हुआ था। इस ग्राम के जीवन में तो यह सभा एक अपूर्व और अविस्मरणीय घटना ही बन गई। आचार्य श्री ने यहां जो कहा, उसमें वे सभी सूत्र थे जिनसे एक नयी मनुष्यता का जन्म हो सकता है। आपके शब्द शब्द में करुणा और व्यथा है, उस स्थिति के प्रति जिसमें कि मनुष्य आज है और सदा से रहा है। उन्होंने यहां कहा कि जब तक मनुष्य को धर्मों से मुक्ति नहीं मिलती है, तब तक धर्म का अभ्युदय भी नहीं हो सकता है। धर्मों ने धर्म की हत्या कर दी है। उन्होंने प्रेम की बातें की हैं और फैलाई है घृणा। धर्म और जाति और राष्ट्र सभी मनुष्यता के पीछे भयानक रोगों की भांति लगे हुये हैं। मनुष्य को इनसे मुक्त होना है। क्योंकि जो दीवारें उसे अपने पडौसी से ही अलग कर देती हैं, वे दीवारें उसे परमात्मा से तो दूर कर ही देंगी। पडौसी भी जब निकट नहीं है तो परमात्मा तो निकट कैसे हो सकता है।

भिलाई तथा छत्तीसगढ में सत्संग एवं सार्वजनिक सभायें :

छत्तीसगढ के युवकों और नागरिकों को पूज्य आचार्यश्री के प्रवचनों को सुनने का अवसर बहुत प्रतीक्षा के बाद मिला। वहां के प्रबुद्ध नागरिकों की आशायें तब पूरी हुई जब आचार्यश्री ने १–२ और ३ अक्टूबर को वहां का त्रिदिवसीय सत्संग का कार्यक्रम स्वीकृत किया। इसके अतिरिक्त दुर्ग, रायपुर और गोन्दिया में भी सामूहिक कार्यक्रम आयोजित किये गये। इन समस्त कार्यक्रमों में युवकों, नागरिकों, एवं महिलाओं ने बहुत बडी संख्या में भाग लिया। मानवीय हृदयों ने आचार्यश्री की वाणी का बहुत बडी संख्या में उपस्थित होकर हृदय से स्वागत किया।

भिलाई सत्संग में :

भिलाई सत्संग के कार्यक्रम वहां के आधुनिक स्थल कम्युनिटी हाल तथा नेहरू सांस्कृतिक केन्द्र में आयोजित हुये। इसके अतिरिक्त भिलाई में औद्योगिक प्रशिक्षण संस्था में भी कार्यक्रम विद्यार्थियों के मध्य रखा गया। अपने प्रवचनों में आचार्यश्री ने कहा: "मेरी दृष्टि में धर्म एक है। अनेक नहीं हैं। इससे सर्व धर्म समन्वय नहीं हो सकता। धर्मों ने मिलकर धर्म की हत्या कर दी है। सारे लोग अलग अलग संगठनों में खडे हो गये हैं और धर्म तथा सत्य के साथ कोई नहीं है। इन संगठनों ने मनुष्य को अत्याधिक चोट पहुंचाई है। स्मरण रखें जो बात एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य को तोड देती है वह धर्म कैसे हो सकती है? धर्म का संबंध संगठन से नहीं, साधना से है। साधना के लिये एकान्त चाहिये, संगठन के लिये इससे विपरीत। धार्मिक लोगों के ऊपर बहुत हिन्सा है। अधार्मिक लोगों के ऊपर नहीं। कोई सर्व रोग समन्वय को इकट्ठा करने की बात नहीं करता है। तो फिर सर्व धर्म समन्वय को कैसे इकट्ठा किया जा सकता है? सभी धर्मों को विदा देनी होगी तभी धर्म शेष रह जायेगा। रोगों को विदा करना होता है। तभी जो बचता है, वह स्वास्थ है।"

मनुष्य के जीवन पर गहराई से विवेचन प्रस्तुत करते हुये आपने कहा: "मनुष्य ने सारा कुछ यांत्रिक क्रम के अनुसार दूसरों के ज्ञान को सीख लिया है। इससे ही जीवन में बहुत पीडा, तनाव और दुख है। प्रकृति के विरोध में खड़े होकर मनुष्य ने अपनी जडों को खो दिया है और उधार ज्ञान ने बहुत से बंधनों में मनुष्य को जकडा दिया है। किसने कहा आप हिन्दू, जैन या बौद्ध हैं? क्या ये सिखाया हुआ नहीं है। और क्या सीखा हुआ प्रेम भी क्या प्रेम होता है। जीवन की सारी श्रेष्ठ बातों को जानने के लिये मनुष्य का चित्त सभी भांति स्वतंत्र होना चाहिये। दूसरी बात मनुष्य का चित्त सरल होना। सरल होना आसान बात नहीं। इस बात में मत पडना कि खादी पहनने और झोपड़ी में रहने से आप सरल हो जायेंगे। सरलता कोई इतनी सस्ती बात नहीं है। अगर आप अपने चित्त को देखेंगे और पायेंगे कि आप कुछ हैं ही नहीं, तो जो घटित होगा, उससे आपके जीवन में सरलता आयेगी।"

एक प्रश्नोत्तर में यह पूछे जाने पर कि: आपकी क्या योजना है? भविष्य में क्या आप विदेश जायेंगे?" आचार्यश्री ने कहा: भविष्य की मेरी कोई योजना नहीं है। मैं प्रतिक्षण आनन्द में जीता हूं। आपने जो यह पूछा कि क्या मैं विदेश

जाऊंगा। यह मनुष्यता को सीमा में बांध देना है। कोई विदेश, सिवाय मनुष्य के मस्तिष्क के अतिरिक्त, कहीं नहीं है। मनुष्य अविभाज्य है और कोई सीमा नहीं है। मेरी कोई योजना नहीं है। मेरी कोई व्यवस्था नहीं है। जितनी भी जडता है वह योजनाबद्ध है। जीवन्त सत्ता की कोई योजना नहीं हो सकती। जब आप प्रेम करते हैं, तब कौन सा लक्ष्य होता है? अगर कोई लक्ष्य है तो प्रेम नहीं है। जीवन जितना गहरा होता है, उतना ही लक्ष्यहीन होता है। जितना लक्ष्य से भरा होता है, उतना ही उथला होता है। जीवन में जो भी श्रेष्ठ है वह अलक्ष्य है और जो भी कचरा है केवल उसका ही लक्ष्य होता है।"

एक और प्रश्नोत्तर में जिसमें यह पूछा गया था कि: "मनुष्य में महत्वाकांक्षा ही न रहे तो संसार का विकास कैसे हो?" आपने कहा: "सामान्यतः विकास से आपका अर्थ सामान और वस्तुयें बढाने से है। महत्वाकांक्षा समृद्धि बढा देती है, शांति नहीं। मनुष्य महत्वाकांक्षा के माध्यम से कुछ चीजें इकट्ठी कर लेता है। लेकिन धीरे धीरे वह स्वयं समाप्त हो जाता है। केवल आगे ही दौड में निकलना है। ऐसी मनः स्थिति से कोई श्रेष्ठ सृजन संभव नहीं होता है। मनुष्य प्रेम से संगीत सीखे तो वह उसमें गहरे उतरता है। अगर हम किसी काम में पूरे प्रेम से उतर जायें तो उसी क्षण में आपको परमात्मा का अनुभव होगा। जिस क्षण भी ये भाव मिट जाये कि "मैं हूं" उसी क्षण आपको शांति मिल जायेगी। हम एक शांत विकास चाहते हैं, अशांत नहीं। छोटे छोटे कामों में प्रेम विकसित हो, तो अपने से शांति विकसित होती है। जहां प्रतिस्पर्धा बढती है, वहां विनाश बढ जाता है। दुनिया के गणित में जो फंसा है, उसे मैं गृहस्थ कहता हूं। प्रेम के गणित में जो फंसा हो उसे मैं संन्यासी कहता हूं।"

रायपुर लायन्स क्लब में:

२ अक्टूबर को यहां पर आयोजित महात्मा गांधी की पुण्य तिथि पर संगोष्ठी में अपने विचार व्यक्त करते हुये आचार्यश्री ने कहा: "हम महावीर को पूजते हैं। बुद्ध और गांधी को और इसी तरह नये नये नाम इस पूजन में जुडते चले जायेंगे। इनके प्रति हम अपनी श्रद्धा अर्पित करके अपने को धोखा में डाल देते हैं। अपेक्षित है कि यदि आपको कोई बात गांधी के जीवन में दिखाई पडती है तो आप उसका स्मरण न करें, उसे अपने जीवन में आने दें। हम अपने

चेहरोंको छिपाने के लिये हमेशा उत्सुक होते हैं। इसलिये हम शैतान के मंदिर में जीते हैं और भगवान के मंदिर में फूल चढाते हैं। यदि आज सुकरात, क्राइस्ट और गांधी वापिस आ जावें तो हम उनके साथ वही करेंगे जो पहले कर चुके हैं। इस तरह झूठी श्रद्धाओं से आज पूरी मानवीयता पीडित है। मनुष्यता को अब बचाना है तो एक बार पूरे मनुष्य को नंगा करके देखना होगा। तभी केवल कोई विकास संभव है और मनुष्यता के लिये बुनियादी आधार रखे जा सकेंगे।"

साइंस कालेज दुर्ग में क्रांतिकारी उद्‌बोधन :

युवक विद्यार्थियों के मध्य अपने क्रांतिकारी सृजक, मौलिक और चिन्तन-शील विचारों को प्रगट करते हुये आचार्यश्री ने कहा : हमारे मुल्क में व्यक्ति शायद ही युवा हो पाता है। शरीर से युवा नहीं, आत्मा से। ऐसा कौनसा सृजन आपने किया है जिससे आप कह सकें कि आप युवा हैं? आप तो छोटी छोटी बातें करके सोचते हैं कि आपने बहुत बडा काम कर लिया : बस में आग लगा देना या पत्थर फेकना, यह कोई साहस का कृत्य नहीं है। छोटी छोटी चीजों को तोडके आप भी छोटे आदमी हो जाते हैं। बहुत बडी बडी चीजें हैं तोडने को। उन्हें आप तोडें तो आपकी समझ और जीवन दोनों ही विकसित होंगे। पुरानी परंपरायें हैं, उन्हें तोडें। पुराने मूल्य हैं, उन्हें तोडें। आप पर आज अनुशासनहीन होने का दोष लगाया जाता है और आप लडते हैं। मुझे दुख यह नहीं है कि आप लडते हो। मुझे दुख यह है कि आप बहुत छोटी लडाई लडते हो। हम जीवन के बाबद् क्या सोच रहे हैं, क्या समझ रहे हैं? कौनसी चीज में आपका विद्रोह है? यह सब स्पष्ट होना चाहिये। मैं चाहता हूं कि आपके बाप दादों ने सिखाया कि हम हिन्दू हैं, हम मुसलमान हैं, इसे तोड दें। मैं देखता हूं कि आज पूरी की पूरी कौम का दिमाग राजनीति के चिन्तन में ही चौबीसों घंटे उलझा है। यह सब पागलपन है। आपको सोचना चाहिये जीवन मूल्यों के प्रति और खडे होना चाहिये जीवन की वास्तविक समस्याओं के प्रति। आप खडे हों मनु महाराज के प्रति विद्रोह में तो समझ में आता है। लेकिन आप तो गरीब मास्टर के प्रति खडे हो जाते हैं। बुनियाद में आप अपनी दिशा निर्धारित करें और जीवन क्रांति की ओर बढें तो ही जीवन का सृजन संभव है और मनुष्य का समग्र विकास भी।"

साइंस कालेज रायपुर में :

आचार्य श्री. ३ अक्टूबर की दोपहर साइंस कालेज रायपुर में बोले। उन्होंने कहा : "मैं युवकों को प्रेम करता हूँ, क्योंकि उनसे ही जीवित मूल्यों में क्रांति की आशा है। अंधविश्वासों से घिरी मानवात्मा में ज्ञान की अग्नि जलानी है। तो ही हम एक ऐसे संसार का निर्माण कर सकेंगे जो कि सत्य के, शिवम् के और सौंदर्य के निकट हो। लेकिन यह करेगा कौन? बस युवकों से ही आशा है। लेकिन यदि वे भी उन्हीं लीकों पर चलेंगे जिनपर परम्पराओं ने सदा ही मनुष्य को चलाया है तो भविष्य एकदम अंधकारपूर्ण है। इसलिए मैं तो बस उसे ही युवा कहता हूं, जिसके हृदय में क्रांति है ओर जो एक नयी मनुष्यता के जन्म के स्वप्नों से उत्प्रेरित है।"

औरंगाबाद में जीवन क्रांति की लहर :

आचार्यश्री का आगमन १२, १३, १४ एवं १५ अक्टूबर को औरंगाबाद हुआ। १२ अक्टूबर की संध्या स्टेशन पर भव्य स्वागत हुआ और उसी रात्रि आपने रोटरी क्लब में वार्ता दी तथा एक सार्वजनिक प्रवचन दिया। फिर १३, १४, १५ अक्टूबर तो नगर की प्रबुद्ध जनता में एक क्रांति की लहर ही फैल गई। छह सार्वजनिक प्रवचन हुये तथा मिलिन्द महाविद्यालय एवं ज्ञान विज्ञान महाविद्यालय में विद्यार्थियों की दो सभाओं को भी आपने संबोधित किया। हिन्दी समिति में भी आपने वार्ता दी और अंतिम दिन एलोरा गुरुकुल में भी अपने विचार प्रगट किये। आपके विचारों में कुछ है जो कि हृदय को झंकृत कर देता है। जैसे किसी ने नींद से जगा दिया हो, सर्वप्रथम तो ऐसा ही अनुभव होता है। फिर धीरे धीरे वे किस अलौकिक दिशा में लिये चलते हैं, इसका भी अनुभव होता है। शब्दों में जो नहीं कहा जा सकता है, उसे भी वे शब्द दे देते हैं। जो उनके इंगित पहचान पाता है, वह उन्हें मात्र सुनता ही नहीं वरन् पीने भी लगता है। उन्हें सुनना और देखना निश्चय ही एक अविस्मरणीय अनुभव है। आपने यहां कहा : "जीवन को पा लेना ही पर्याप्त नहीं है। जीवन तो एक अवसर मात्र है। जो उसे और वृहत्तर जीवन को पाने में नहीं लगाते हैं, वे उसे व्यर्थ ही खो देते हैं।"

साधना और जीवन :
माथेरान में त्रिदिवसीय शिबिर आयोजित :

पूज्य आचार्यश्री के सान्निध्य लाभ और साधना के लिये माथेरान में २३ २४ और २५ अक्टूबर को एक त्रिदिवसीय शिबिर जीवन जागृति केन्द्र बंबई के द्वारा आयोजित किया गया था। शिबिर में देश के विभिन्न स्थानों के ४५० साधकों ने भाग लिया। शिबिर में प्रतिदिन प्रातः एक प्रवचन और ध्यान, मध्यान्ह प्रश्नोत्तर और वैयक्तिक चर्चा एवं रात्रि प्रश्नोत्तर तथा ध्यान के प्रयोग। आचार्यश्री ने अपने प्रवचनों में कहा : "व्यक्ति को अपने अज्ञान का बोध होना साधना का प्राथमिक चरण है। अज्ञान के सम्यक् बोध से ही अज्ञान विसर्जित होता है।

मनुष्य के ऊपर जो सबसे बडी धूल है, वह ज्ञान की है। अज्ञानी जरूर सत्य से वंचित रह जाता है लेकिन ज्ञानी भी सत्य को उपलब्ध नहीं होते। सत्य को उपलब्ध व्यक्ति को तो ज्ञानी कहा जा सकता है। लेकिन ज्ञानी को सत्य उपलब्ध हुआ है? ऐसा नहीं कह सकते। अज्ञान बाधा है, ज्ञान भी बाधा है। उधार ज्ञान ही मिथ्या ज्ञान है। जो ज्ञान स्वयं से आये वही सत्य है।

अगर बुनियादी बात आपको पता नहीं कि आपको कुछ भी पता नहीं है, तो आप सत्य को कैसे पा सकेंगे? बोध पहला बीज है। अज्ञान का बोध जिसे पता पडा, उसके भीतर पहला बीज पडा कि वह सत्य को जान सके।"

दूसरे दिन प्रातः प्रवचन में आपने कहा कि: "रहस्य का अनुभव, मनुष्य का समाप्त होता जा रहा है। जिस चित्त में रहस्य नहीं होगा, वह चित्त धार्मिक कैसे होगा? जिसे हम जान लेते हैं, रहस्य समाप्त हो जाता है। विज्ञान ने धार्मिक ग्रंथों ने कुछ व्याख्यायें दे दी और उनके विश्लेषण से हमारा रहस्य खो गया। जो भी आत्मिक है वह जुडा हुआ है व खंड में नहीं है। लेकिन विज्ञान और धर्म उसके खंड खंड कर देता है और सुन्दरता नष्ट कर देता है। जो अज्ञात है वही परमात्मा है। जीवन के प्रति निरंतर नये का बोध, निरंतर रहस्य का बोध ही मार्ग बनता है। पहला चरण है अज्ञान का बोध, दूसरा चरण है रहस्य का बोध।

तीसरे दिन सुबह के प्रवचन में आचार्यश्री ने कहा: "यदि मनुष्य को अज्ञान और रहस्य का बोध न हो, तो वह प्रकृति से दूर होता जाता है। वह पीडा और दुख में पड जाता है। मनुष्य इन दोनों से अपने से टूटा है। क्यों मनुष्य अपने को भरना चाहता है? और क्यों मनुष्य रहस्य से दूर हट गया है?

आपने कहा कि: मनुष्य जीवन भर इकट्ठा करता है। यदि कोई एक संग्रह छोड देता है, तो वह दूसरा संग्रह करने लगता है। धन छोड देगा तो त्याग इकट्ठा करने लगेगा। क्यों हम संग्रह करना चाहते हैं? मनुष्य के भीतर कोई खालीपन है—उस शून्य से भय है। उसको हम किसी न किसी रूप से भर लेना चाहते हैं। मनुष्य के भीतर एक अभाव है—संग्रह की वृत्ति भीतर के अभाव से पलायन है। किन्तु भीतर जो रिक्त है, वही हमारा स्वभाव है। इसीलिए तो कोई कितना भी भरे, कभी भी खालीपन मिटता नहीं."

इस प्रकार आचार्यश्री ने व्यक्ति चेतना को स्वयं में स्थित होने के लिये साधना के तीन अपरिहार्य इंगितों पर: अज्ञान का बोध, रहस्य का बोध और अभाव का बोध, शिबिर की त्रिदिवसीय चर्चाओं में बहुत गहराई से समझाया।

जीवन और आनन्द :
नासिक में महिलाओं का त्रिदिवसीय शिविर आयोजित :

श्रीमती पूर्णिमा पकवासा, संयोजिका शक्ति दल, के द्वारा आचार्यश्री को भोसले मिलिटरी स्कूल, नासिक में दिनांक :२७, २८ व २९ अक्टूबर को एक महिलाओं के शिबिर में निमंत्रित किया गया था। इस शिबिर में १५० महिला साधक थीं। आचार्यश्री ने ,अपने त्रिदिवसीय कार्यक्रम में 'जीवन और आनन्द' पर अपनी अंतरंग अनुभूतियों को स्पष्ट किया और प्रेरणा के दीप प्रज्वलित किये। आपने कहा: "जीवन एक दु:ख की लंबी कथा है। क्या कारण है? मनुष्य जाति में ऐसी कौनसी भूल हो गई है कि उसमें कोई आनन्द का झरना नहीं बहता है? यदि इसी जीवन से तुम्हें यह अनुभव हो सके तो शायद तुम आनन्द को जान सको। मनुष्य बहुत कुछ अपने साथ लेकर पैदा नहीं होता। बहुत कुछ उसे अपने जीवन में सृजन करना होता है। पशु पक्षी पूरे पैदा होते हैं। मनुष्य पूरा पैदा नहीं हुआ है, उसे बहुत कुछ पैदा करना होता है। जो लोग जन्म को ही सब कुछ समझ लेते हैं, उनमें कुछ भी निर्माण नहीं होता। सभी बीज अंकुर नहीं बन पाते। उसी तरह सभी मनुष्य पूरे नहीं बन पाते, अधूरे ही मर जाते हैं। यही अधूरापन दुख है। हर आदमी अनगढ पत्थर की भांति है। यदि उस पर श्रम किया जाये, तो वह मूर्ति बन सकता है। इस भांति का बोध कि मैं एक बीज की भांति हूं, उसमें श्रम करना, उसे फूल और फल तक पहुंचाना है, व्यक्ति का समग्र विकास है। जो व्यक्ति स्वयं की आत्मिकता के दर्शन करने में समर्थ हो जाता है, वह यह कह सकता है कि मैंने कुछ पाया और जीवन व्यर्थ नहीं गया।"

११ दिसम्बर, ३६ वीं पुण्यतिथि पर

"आचार्य श्री रजनीश :–सम सामयिक अध्यात्म क्रांतियों का संकल्प"

–राजेन्द्र सुमन

"क्या आप उस प्रकाश के लिये प्यासे हैं; जो जीवन को आनन्द से भर देता है? और क्या आप उस सत्य के लिये अभीप्सु हैं, जो अमृत से संयुक्त कर देता है? मैं तब आपको आमंत्रित करता हूँ आलोक के लिये, आनंद के लिये और अमृत के लिये। मेरे आमंत्रण को स्वीकार करें।"

प्रथम बार जब आचार्यश्री के इस आत्मविश्वास को, क्रांतिपूर्ण संदेश को, स्नेहसिक्त आमंत्रण को पढ़ा, तो मेरी आंखों में आचार्यश्री की वह तेजमय मुस्कराती तस्वीर घूम गई, जिसके अत्यन्तसमीप रहने का मुझे समय समय पर सुअवसर प्राप्त हुआ है और होता रहता है। उनका निष्ठायुक्त, अध्ययन और अनुभूति अभीप्सा तथा परिपृप्ति के प्रयत्न और उपलब्धि के लणों की स्थिर यौगिक 'पोट्रेट' मेरी आंखों में अभी भी कौंध रहा है।

चौड़ा ललाट, बड़ी-बड़ी शांत स्थिर आंखें–घनी काली दाढ़ी, उज्वल वर्ण, ढीले ढाले सफेद अत्याल्प वस्त्र–सदा 'स्व' में खोयी मुखमुद्रा–यह है भारतीय दर्शन का वर्तमान भारतीय विचारकों के अद्वितीय बेजोड़ प्रतिनिधि आचार्य श्री रजनीश।

जिसने प्रभू और प्रभू की महत्ता को समझा है। उसे सोचा है। जिसने प्रभु को उपलब्ध किया है। और जो स्वयं प्रभु को उपलब्ध हुआ है। उनके इन अमृतवाक्यों में "मित्र स्वयं से लडना नहीं हैं स्वयं को जानना भर है।" 'स्वज्ञान' प्रकाश में वैसे ही वाणी-भूत हो जावेंगे जैसे सूरज निकलने पर ओस कण विलीन हो जाते है। जो विश्वास और दृढ़तात्मक होती है। उससे यह महसूस होता है, कि आचार्यश्री की आंखें उस अनंत पर टिकी है, जिससे एक बार साक्षात हो जाने पर फिर उससे पड़ोसी होना असंभव होता है। आचार्यश्री की इस कल्याणी वाणी और भारतीय संस्कृति की संरक्षिका विचारणा को आज देश विदेश के हजारों व्यक्तियों ने उपादेय माना है। मनीषि विचारक के इस क्रांति पूर्ण उद्‌बोधन ने आर्य संस्कृति की इकाई में उथल पुथल मचा दी है।

उन्होंने जब वर्तमान की सर्वोपरिधूर्तता का पर्दा फास करते हुए यह स्मरण दिलाया कि "स्मरण रहे कि सत्यकामी दुरुपयोग हो सकता है। तथा श्रेष्ठ सत्य भी निकृष्ट असत्यों को छिपाने के काम में लाये जा सकते है।

ऐसा हुआ है...और नित्य हो होता है। और पाप आत्मा की शुद्धबुद्धता में 'टांपें' जा सकते है। और अकर्मण्यता सन्यास बन सकती है। तब सुननेवालों को यह प्रतिबोध हुआ कि आचार्य श्री का आंदोलन रहित स्थिर सद्य कोमल हृदय भी पड़ौसी की अज्ञान पूर्ण मूर्च्छाओं को भ्रान्तिपूर्ण धारणाओं की रेत की दीवार को ढहाने के लिये कितना सशक्त है ।

अनन्त की सत्ता को उन्होंने समझा है, तथा उनका सप्रमाण आकाट्य तर्कों-युक्त कथन है कि–वह अनन्त की अमृत सत्ता 'प्रत्येक' 'ट्रीचर' का उसका अपना परिवेश है। आचार्य श्री के यह असीम स्नेह और मंगल उद्‌बोधकनात्मक उद्‌गार जीवित संसार के प्रत्येक कोणों में परिव्यक्त हो। जन-मन के अशांत भूल की सत्य के प्रति प्रज्वलित अनन्त जीजिविषाओं को अमूलस करने में प्रयत्नशील हों। अन्त में आचार्य श्री के मंगल मय विचारों को हम अपने हृदय में स्थान देते हुए कामना करते हैं कि वे अपनी सस्वस्थ साधनाओं को पूर्णकर गन्तव्य की प्राप्ति करें।

अखिल भारतीय नवोदित तरुण हिंदी साहित्यकारों की एक मात्र एकता और संगठन की प्रतीक संस्था हिन्दी नव लेखन प्रतिष्ठा क्लब के मूर्धन्य साहित्य-कार सदस्यों की ओर से मैं आचार्यश्री की सस्वस्थ दीर्घायु के लिये मंगल कामना करता हुआ उनका शत अभिनन्दन करता हूँ।

अशोक साहित्य भवन ८२
पो. सिगौडी (छिन्दवाडा) (म. प्र.)

बम्बई जैन युवक संघ की तरफ से आयोजित

व्याख्यान सभा का एक शब्द चित्र

इस बार की पर्युषण व्याख्यानमाला के प्रथम दिन की तरह व्याख्यान माला का अंतिम दिन भी रविवार ही था। यह सिर्फ रविवार ही नहीं, परन्तु पर्वाधिराज पर्युषण का संवत्सरी का दिन भी था। यह सिर्फ संवत्सरी का दिन ही नहीं,

पर जिसने धर्म विचारों में क्रांति के बीज उपजाए–सिंहनाद की–ज्योतिशिखा जलाई है, ऐसे आचार्य श्री रजनीशजी के व्याख्यान का भी दिन था। सुन्दर चिन्तन यात्रा का, ज्ञानयात्रा का–इसका उच्चतम शिखर का दर्शन करने मानव झुण्ड उमड़ पड़ा था। घड़ी में अभी तो आठ भी नहीं बजे थे और हाल की कुर्सियां, आने-जाने के रास्ते, स्टेज और स्टेज के बाहर, सभी जगह भर गयी थी। लोग आते ही जा रहे थे। कार्यकर्ताओं की गतिविधियां बढ़ती जा रही थी। लाउडस्पीकर के द्वारा दूर-दूर तक आवाज सुनाई दे सके ऐसी व्यवस्था की गई थी। हालांकि वैसे कितने ही मित्र निराश भी हुए। कितने ही वापस भी चले गये। साढे आठ बजे कि संगीत-युगल अजीत सेठ और निरुपमा सेठ ने बुलन्द आवाज में प्रार्थना प्रारम्भ की। इससे वातावरण में थोड़ी स्वस्थता आयी। वातावरण संगीत में सरावोर हो गया। सब ओर शांति हो गयी। एक के बाद एक सुन्दर भजन गाये गये। समय बीतता रहा। घड़ी में साढ़े नौ बजे इधर खलील जीब्रान के जैसे व्यक्तित्व वाले आ. रजनीशजी का प्रवेश हुआ। वातावरण इतना शांत हो गया कि सुई गिरने की आवाज भी सुनी जा सकती थी। और आचार्य रजनीशजी ने अपनी ओजस्वी कभी न रुकनेवाली वाणी में बोलना प्रारम्भ कर दिया। यह सिर्फ वाक्...धारा ही नहीं थी पर एक नयी विचार धारा थी, और उनके बोलने पर सबके हृदयों के तार झनझना जाते हैं। "व्यक्ति, उसका अपना व्यक्तित्व है, यह अपने व्यक्तित्व को ही प्राप्त करता है, किसी की भी नकल नहीं हो सकती। नही उसका महावीर या बुद्ध होने का प्रयत्न ही है। सत्य और प्रेम ही द्वार पर के परमात्मा है। इस दरवाजे को धकेलने की आवश्यकता नहीं है सिर्फ हाथ ही लगाओ, पर हाथ लगाने की भी जरूरत नहीं है, आंखें खोलकर इसकी तरफ देखना भर है कि द्वार खुल जायेगा..." श्रोताओं की आंखें आनंद के आंसुओं से भर आयी। हृदय के द्वार खुलते है और वह कहता है–"कि बस यही सच्चा है। यही सुनने के लिए हम बरसों से राह देखते रहे थे। आज हमें तृप्ति हुई परम तृप्ति हुई।"

अन्त में राष्ट्रगीत के गायन के पश्चात सुखद वातावरण में आयोजन समाप्त हुआ।

चिमनलाल जे. शाह

जीवन जागृति केन्द्र बम्बई द्वारा प्रकाशित
आचार्य रजनीश-साहित्य

हिन्दी साहित्य :–

१ साधना पथ	....	मू. रुपया,	२–००
२ क्रांतिबीज	....	,,	२–००
३ सिंहनाद	....	,,	१–२५
४ अमृतकण	....	,,	०–४०
५ पथके प्रदीप	....	,,	४–५०
६ मिट्टीके दिये	....	,,	३–००
७ अहिंसा दर्शन	....	,,	०–४०

गुजराती साहित्य :–

१ साधनापथ	....	,,	२–००
२ क्रांतिबीज	....	,,	२–००
३ सिंहनाद	....	,,	१–००
४ अहिंसा दर्शन	....	,,	०–३५
५ अमृतकण	....	,,	०–४०
६ माटीना दिवा	....	,,	३–००

मराठी साहित्य :–

१ साधनापथ	....	,,	३–००
२ सिंहनाद	....	,,	२–००
३ अमृतकण	....	,,	०–५०

अंग्रेजी साहित्य :–

१ पाथ आफ सेल्फरियेलायजेशन	....	,,	२–२५

आचार्य श्री रजनीशजी का आगामी कार्यक्रम

दिसम्बर ता. २६–२७–२८ अमरावती के पास हिल स्टेशन
चिखलदरा में साधना शिबिर

जनवरी ता. ४–५–६ जालना–सत्संग

,, ता. १६–१७ अहमदाबाद गुजरात युनि.

विगत के लिए सम्पर्क करें :–
जीवन जागृति केन्द्र,
५०५ कालबादेवी, बम्बई–२. फोन : २२३३१

"मैं एक उखडे हुअे वृक्षका स्मरण करता हुँ। जब भी मनुष्यके सम्बन्धमें सोचता हूँ, यह अनायास ही स्मृतिमें उभर आता है। न जाने क्यों मैं मनुष्यको वृक्षसे भिन्न नहीं समझ पाता हूं। शायद, जडोंके कारण ही यह समता चित्तमें घिर गई है। व्यक्ति अपने सत्ता केन्द्रसे टूट जाय तो उखडे वृक्षकी भांती हो जाता है। स्वरुपसे जो वियुक्त है, वह सत्तासे जड़ें खो रहा है; कैसा आश्चर्य है कि हम स्वयंसे ही अपरिचित होते जा रहे है? जैसे वह दिशा जाननेकी ही नहीं है? जैसे। वह कोई दिशा ही नहीं है? यदि भूल चूक से कोई अपने से मिल जाये, यदि अनायास कहीं स्वयं से साक्षात् हो जावे, तो जिससे मिलन हुआ है, उसे देख आवाक हो रह जाना पड़ेगा, पहचानना तो किसीभी तरह संभव नहीं है। स्व से, स्वभाव से हमारी जड़ें उखड़ गई हैं। हम हैं, पर स्वयं में नहीं। सबसे परिचित है, पर स्वयं से अनजान और अजनबी हो गये हैं। बाहर ज्ञान बढा है, भीतर अज्ञान घना हो गया है। दिये के तले अंधेरा होने की बात बहुत सच हो गई है। शक्ति आई है शांति विलीन हो गई है। विस्तार हुआ है, गहराई नहीं आई है। असंतुलन और पक्षघात से घिर गये हैं, जैसे कोई वृक्ष बाहर विस्तृत हो पर भीतर उसकी जड़ें सडने लगी हों, ऐसा ही मनुष्य के साथ हुआ है। इसमें दुःख, विषाद और संताप पैदा हुआ है, निराशा और आसन्न मृत्यु की कालिमा बनी हुई है, जैसे किसी भी वृक्ष की भूमि से जडें ढीली होने पर होती हैं, मनुष्य की भी जडें हैं और उसकी भी भूमि है। इस सत्य को पुनर्उद्घोषित करने की आवश्यकता है। यह अत्यन्त आधारित सत्य विस्तृत हो गया है। इस विस्मृति के कारण हम क्रमशः अपनी जडें अपने हाथों खो रहे हैं। एक सतत आत्मघात में हम लगे हैं। यह जडों को खोना हमें निरंतर गहरे से गहरे दुःख, विषाद और मृत्यु में ले जा रहा है।"

—आचार्य श्री रजनीश